प्रथम संस्करण, १९४८

प्रकाशक—शक्ति कार्यालय, दारागंज, प्रयाग।
मुद्रक—[illegible], राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज, इलाहाबाद।

विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ की ओर संकेत करना चाहता हूँ, जिनके विचार नव-भारत के समाज को गतिदायक और स्वदेश भक्ति पोषक सिद्ध हुए। १८८७ के लगभग तक इन सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों में घनि. संबंध था, किन्तु उसके बाद राजनीति को प्रमुखता मिलने तथा धार्मिक एवं सामाजिक विवादों से भारतीय ऐक्य को आघात न पहुँचने देने के ध्येय के कारण उनकी गति मंद हो गई।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के आध्यात्मिक और मानसिक क्षेत्र में दो शक्तियाँ काम कर रही थीं। एक पश्चिमी और दूसरी पूर्वी। इसके अतिरिक्त एक नवीन राजनीतिक आंदोलन भी उठ खड़ा हुआ जिसका अंत इंडियन नैशनल काँग्रेस की स्थापना में हुआ। जिस वर्ष भारतेन्दु जी की मृत्यु हुई उसी वर्ष काँग्रेस का जन्म हुआ। इस राजनीतिक संस्था का जन्मदाता ह्यम एक अँगरेज़ था। काँग्रेस के जन्म से पूर्व इस राजनीतिक आंदोलन में उन लोगों का हाथ था जो शिक्षित और मध्यम वर्ग के थे और जिन्होंने वर्क, मैकॉले, ब्राइट, मिल, मौर्ले, ग्लैड्सटन आदि के विचारों का मंथन किया था। राजनीतिक दृष्टि से इसी मध्यमवर्गीय दल ने, जिसका एक पैर अब भी भारत की प्राचीन सभ्यता और दूसरा निश्चित रूप से 'पश्चिमी सभ्यता में जमा हुआ था, पहले-पहल देश को 'स्वराज्य' की दीक्षा दी थी। उस समय 'स्वराज्य' का आधुनिक अर्थ में प्रचार करना जुर्म था। तत्कालीन 'स्वराज्य' का अर्थ ब्रिटिश राज्य

वक्तव्य

आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी में भी उसके उत्तरार्द्ध का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। उस समय जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों का साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका और अन्त में हिन्दी नवोत्थान का जन्म हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस नवोत्थान के प्रतीक थे। नवीन राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न नवीन भावों और विचारों को उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान दिया। उन्होंने नवीन ऐतिहासिक घटना-चक्र और अपने चारों ओर के जीवन की परिस्थितियों की वास्तविकता का अनुभव कर हिंदी जनता के भावी प्रशस्त मार्ग के निर्माण की चेष्टा की। और न केवल हिन्दी साहित्य की दृष्टि से वरन् तत्कालीन भारतीय इतिहास समझने की दृष्टि से भी उनके साहित्य का महत्व है। किन्तु जितना ही उनके साहित्य और उनकी विचारधारा का महत्व है, उतना ही उनके संबंध में भ्रम फैला हुआ है। उनकी राज्य-भक्ति, देश-भक्ति और राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक विचारों के संबंध में लोगों में अजीब-अजीब धारणाएँ फैली हुई हैं। और जब कुछ लोग अपनी एक खास विचारधारा का प्रतिबिंब भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की विचारधारा में देखने लगते हैं तो आश्चर्य के साथ-साथ दुःख होता है। उदाहरणार्थ, भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की अँगरेजों के प्रति या उनकी आर्थिक नीति के प्रति या भारतीय स्वतंत्रता

के प्रति वह भावना नहीं थी जो असहयोग आंदोलन के बाद हम में पैदा हुई। उनके जो कुछ विचार थे वे उनके युग-धर्म के अनुसार थे। उन पर बीसवीं शताब्दी के विचार आरोपित करना इतिहास के प्रति अन्याय करना होगा। वास्तव में भारतेंदु की रचनाओं का सम्यक् अध्ययन न होने के कारण ही ऐसा हुआ है। इसलिए उनकी समस्त रचनाओं के आधार पर उनकी विचारधारा का विस्तार के साथ अध्ययन करना प्रस्तुत प्रबंध का मुख्य उद्देश्य है।

भारतेन्दु की विचारधारा के अध्ययन के संबंध में उनकी रचनाओं से अत्यधिक अवतरण उद्धृत करने के लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। क्योंकि एक तो इससे उनके विचार अच्छी तरह समझने में आसानी होगी, और दूसरे हिन्दी नवोत्थान के प्रथम चरण का जितना अच्छा परिचय हमें उनकी रचनाओं से प्राप्त होता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। साथ ही उनके विचारों का उन्हीं के शब्दों में कथन करने, उनके युग की समस्याओं पर उन्हीं के शब्दों में प्रकाश डालने के लिए इच्छुक होने के कारण भी मैं ऐसा करने में प्रवृत्त हुआ हूँ, ताकि फैले हुए भ्रमों का भली भाँति निराकरण हो सके और आगे के लिए कोई गुंजायश न रह जाय।

इस प्रबंध के लिखने में जिन अनेक विद्वानों की रचनाओं से सहायता मिली है लेखक उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

प्रयाग,
१५ अगस्त, १९४८

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
१—भारतेन्दु जीवन की परिस्थितियाँ	...	१—४७
२—भारतीय पतन	...	४८—६०
३—पतन के कारण	...	६१—७४
४—अँगरेजी राज्य	...	७५—१११
५—विविध-सुधार	...	११२—१३३
६—भाषा, धर्म तथा उद्बोधन	...	१३४—१५५
७—उपसंहार	...	१५६—१६२

के प्रति वह भावना नहीं थी जो असहयोग आंदोलन के बाद हम में पैदा हुई। उनके जो कुछ विचार थे वे उनके युग-धर्म के अनुसार थे। उन पर बीसवीं शताब्दी के विचार आरोपित करना इतिहास के प्रति अन्याय करना होगा। वास्तव में भारतेंदु की रचनाओं का सम्यक् अध्ययन न होने के कारण ही ऐसा हुआ है। इसलिए उनकी समस्त रचनाओं के आधार पर उनकी विचारधारा का विस्तार के साथ अध्ययन करना प्रस्तुत प्रबंध का मुख्य उद्देश्य है।

भारतेन्दु की विचारधारा के अध्ययन के संबंध में उनकी रचनाओं से अत्यधिक अवतरण उद्धृत करने के लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। क्योंकि एक तो इससे उनके विचार अच्छी तरह समझने में आसानी होगी, और दूसरे हिन्दी नवोत्थान के प्रथम चरण का जितना अच्छा परिचय हमें उनकी रचनाओं से प्राप्त होता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। साथ ही उनके विचारों का उन्हीं के शब्दों में कथन करने, उनके युग की समस्याओं पर उन्हीं के शब्दों में प्रकाश डालने के लिए इच्छुक होने के कारण भी मैं ऐसा करने में प्रवृत्त हुआ हूँ, ताकि फैले हुए भ्रमों का भली भाँति निराकरण हो सके और आगे के लिए कोई गुंजायश न रह जाय।

इस प्रबंध के लिखने में जिन अनेक विद्वानों की रचनाओं से सहायता मिली है लेखक उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

प्रयाग,
१५ अगस्त, १९४८

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
१—भारतेन्दु जीवन की परिस्थितियाँ	...	१—४७
२—भारतीय पतन	...	४८—६०
३—पतन के कारण	...	६१—७४
४—अँगरेज़ी राज्य	...	७५—१११
५—विविध-सुधार	...	११२—१३३
६—भाषा, धर्म तथा उद्‌बोधन	...	१३४—१५५
७—उपसंहार	...	१५६—१६२

१. भारतेन्दु-जीवन की परिस्थितियाँ

भारतवर्ष के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रारंभ में भारतवासी एशियाई इतिहास और सभ्यता के निर्माता थे। उस समय उन्होंने अपनी सभ्यता और संस्कृति को सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाया था। यही नहीं, वरन् विश्व-संस्कृति को गौरवमय शिखर तक पहुँचाने में भी भारतवर्ष ने बहुत बड़ा भाग लिया। उसके बाद जब भारत अपनी पतितावस्था से गुजर रहा था उस समय वह इस्लाम धर्म के संपर्क में आया और दोनों धर्मों और संस्कृतियों का एक दूसरे पर जो प्रभाव पड़ा उस से एक नवीन समन्वयात्मक मार्ग का सृजन हुआ। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में भारत का फिर एक नई सभ्यता के साथ संसर्ग स्थापित हुआ। यह नई सभ्यता यूरोपीय सभ्यता थी और अँगरेज इसे अपने साथ लाए थे। किंतु अँगरेजों की नीति के कारण इस नई पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क से वह परिणाम दृष्टिगोचर तो न हुआ जो मुसलमानों के आने पर हुआ था तो भी अँगरेजी राजनीतिक सत्ता स्थापित हो जाने के बाद भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में उसका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था।

राष्ट्रीयता का नवीन विचारों और परिस्थितियों से प्रभावित होने के साथ-साथ देश के प्राचीन वैभव की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक और फलस्वरूप उनका राष्ट्रीयता के एक विशेष रूप को स्थिर करना भी अनिवार्य था।

भारतवर्ष में पश्चिमी सभ्यता के साथ संपर्क स्थापित करने का अवसर सर्वप्रथम बंगाल को प्राप्त हुआ। १८२८ में वहाँ ब्राह्म समाज की स्थापना हो चुकी थी। उस समय कलकत्ता सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक आंदोलनों का केंद्र बना हुआ था और लगभग उन्नीसवीं शताब्दी भर बना रहा। किन्तु ज्यों-ज्यों अँगरेजी राज्य का विस्तार उत्तर-पश्चिम की ओर होने लगा, त्यों-त्यों देश के उस भाग में भी पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता गया। अँगरेजी शिक्षा ने उसको तीव्रता प्रदान की। १८५७ तक उत्तर-पश्चिम प्रदेशों में दो सभ्यताओं का पारस्परिक संघर्ष चलता रहा। तत्पश्चात् देश का जीवन निश्चित रूप से नए साँचे में ढलने लगा। हिन्दी साहित्य का उन्नीसवीं शताब्दी के इसी अंश से घनिष्ट सम्बन्ध है। नवीन राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन विचारों का प्रभाव हिंदी के साहित्यिकों पर पड़े बिना न रह सका। ऐसे जाग-रूक व्यक्तियों में भारतेंदु हरिश्चंद्र अग्रगण्य थे। अपने सम-कालीन साहित्यिकों का सहयोग भी उन्हें प्राप्त था। हिंदी के तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में जो पद स्वामी

पश्चिम की एक जीवित जाति के संसर्ग में आकर अधःपतित देश के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन को जो आघात पहुँचा उससे वर्षों के अलसाये जीवन में नवस्फूर्ति और चेतना का संचार हुआ। जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध होने के कारण साहित्य भी इन नवीन प्रभावों से अछूता न रह सका। भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित हो जाने के बाद, और विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में, हिन्दी साहित्य का अनेक अंशों में उसके प्राचीन रूप से अलगाव पाया जाता है। विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ हिंदी-गद्य-साहित्य की विशेष उन्नति हुई और देश-काल के अनुसार कविता नए-नए विषयों की ओर झुकी। हिंदी साहित्य के जिस नवीन, विशद, पूर्ण और विविध-विषय-संपन्न स्वरूप के निर्माण का श्रीगणेश उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था उसी का विकसित रूप आज हमारे साहित्य को गौरवान्वित कर रहा है। उससे हमें ज्ञात होता है कि लगभग पिछले सौ वर्षों में हिंदी साहित्य ने कितनी प्रगति की है। हिंदी साहित्य की इस नवीनता का बीजारोपण भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्राचीन केन्द्र काशी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुआ।

'साहित्य में नवीनता' से मेरा तात्पर्य भारतीय नवोत्थान द्वारा पोषित नवीन विचारों की सृष्टि और फलतः साहित्य में नवोदित धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि नवोदित आंदोलनों को आश्रय प्राप्त होने से है। साथ ही नवोत्थानकालीन

दयानंद सरस्वती (१८२४-१८८३) का था वही पद भारतेंदु हरिश्चन्द्र का साहित्यिक क्षेत्र में था। वास्तव में राजा राम-मोहन राय, केशवचंद्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दादाभाई नौरोजी, जस्टिस रानाडे प्रभृति सज्जनों की परंपरा में ही भारतेंदु हरिश्चन्द्र की गणना की जानी चाहिए। समस्त हिंदी प्रान्त का साहित्यिक नेतृत्व उनके हाथ में था। राजनीति के स्थान पर साहित्य को अपना प्रधान साधन चुन कर उन्होंने जनता के हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न किया और उस में आशातीत सफलता भी प्राप्त की। उन की मृत्यु के बाद भी उन के विचारों और आदर्शों का सम्मान और प्रचार होता रहा। उनके जीवन-काल में ही जनता (मेरा आशय शिक्षित जनता से है। उस समय सभी आन्दोलन शिक्षित जनता तक ही सीमित थे) ने उन्हें 'भारतेंदु' की उपाधि प्रदान की थी। उन की मृत्यु के बाद 'हरिश्चंद्राब्द' का प्रचार हुआ, ठीक उसी प्रकार जैसे 'दयानंदाब्द' का। इन सब बातों से उनके महान् व्यक्तित्व और प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। हिंदी-भाषा-भाषी उन्हें और उनकी रचनाओं को आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। यद्यपि उन्हों ने किसी 'दल' विशेष की स्थापना नहीं की थी, और न इसकी कोई आवश्यकता ही थी, तो भी उनके व्यक्तित्व और विचारों से प्रभावित हो कर लोग स्वयं उनकी ओर आकृष्ट होते थे। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद जैसे सरकारी कृपा-पात्र का जनता के हृदय पर

शासन करने वाले भारतेंदु हरिश्चंद्र ही मुक़ाबला कर सकते थे। उस काल में एक साधारण व्यक्ति ऐसा करने का साहस नहीं कर सकता था। उनकी मृत्यु हुए तिरसठ वर्ष हो चुके हैं। किंतु आज भी जब हम उनके विचारों का अध्ययन करने बैठते हैं तो तत्कालीन हिंदी-प्रांतीय अपार जनसमूह के अज्ञानांधकार में वे प्रकाश-स्तंभ के समान दिखाई देते हैं। धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं तथा अज्ञान और अविद्या के गर्त में डूबी हुई मूक जनता का उन्होंने मार्ग-प्रदर्शन किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र अपने युग के प्रतिनिधि कवि और हिंदी प्रांत की तत्कालीन नव चेतना और जागृति के जाज्वल्यमान प्रतीक हैं। उनकी रचनाओं में उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नवीन भारत का स्वर स्पष्ट रूप से प्रतिध्वनित है। 'नवीन भारत' से तात्पर्य उन अँगरेजी शिक्षितों से नहीं है जो पश्चिमी सभ्यता के चकाचौंध में जो कुछ अच्छा भारतीय था उसे भी भूल जाना चाहते थे। ऐसे व्यक्तियों से समाज को भय अवश्य था, किंतु सौभाग्य से उनकी संख्या नगण्य थी और जनता को उनमें अविश्वास था। भारतेंदु भी पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित थे, लेकिन भारतीय जीवन के सुन्दर और कल्याणकारी पक्ष को वे भूल जाना नहीं चाहते थे। ऐसे दूरदर्शी और समझदार व्यक्तियों की संख्या कुछ कम थी। वे पूर्व और पश्चिम के सक्रिय सामंजस्य के हामी थे।

भारतेन्दु के विचारों को पूर्णरूप से हृदयंगम करने के

लिए सर्वप्रथम उनके जीवन और उनके युग का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज और वैश्यकुलोद्भव थे। सेठ अमीचन्द कलकत्ते में व्यापार करते थे और समय-समय पर अँगरेजों की सहायता करते रहते थे। अँगरेजों ने अपना व्यापार फैलाने में भी सेठ जी से सहायता ली। किंतु अन्त में इसका परिणाम अच्छा न हुआ। नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर चढ़ाई करते समय उनका भी धन लूटा। उनका घर जला दिया गया और कई स्त्री-पुरुष मारे गए। नवाब के स्थान पर मीरजाफर को गद्दी पर बिठाते समय अमीचन्द के साथ विश्वासघात किया गया, जिससे उन्हें इतना क्षोभ हुआ कि थोड़े ही समय के बाद वे मृत्यु को प्राप्त हुए। इन घटनाओं के बाद उनके वंशज काशी में आकर बस गये। उनके एक वंशज 'बाबू फ़तेचन्द के पुत्र बाबू हर्षचन्द अपने चाचा की समस्त संपत्ति के भी उत्तराधिकारी हुए। इसके अतिरिक्त बाबू फतेचंद का विवाह काशी के जगत्‌सेठ गोकुलचंद जी की एक मात्र कन्या से हुआ। उनकी समस्त सम्पत्ति के अधिकारी भी बाबू फतेचंद जी हुए। इस प्रकार तीनों घरानों की लक्ष्मी इनके यहाँ आ इकट्ठी हुई और उस सबके अधिकारी बाबू फतेचंद के पुत्र बाबू हर्षचंद हुए।' बाबू हर्षचंद की मृत्यु के बाद इस अतुल धन-सम्पत्ति के उत्तराधिकारी भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचंद उपनाम गिरधरदास जी हुए। भारतेन्दु के

समान उनके पिता भी प्रतिभा संपन्न एवं प्रगतिशील व्यक्ति थे। उनके विषय में भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबंध में लिखा है : "मेरे पिता ने बिना अँगरेजी शिक्षा पाए इधर क्यों दृष्टि दी (विशुद्ध नाटक-रीति पात्र-प्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा के प्रथम नाटक की रचना), यह बात आश्चर्य की नहीं ; उनके सब विचार परिष्कृत थे, बिना अँगरेजी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्णपालन के हेतु उन्होंने अन्य देवता-मात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिए थे। टामसन साहब लेफ्टिनेंट-गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी ही लोकनिंदा थी। हम लोगों को अँगरेजी शिक्षा दी। सिद्धांत यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है।" बाबू गोपालचंद की मृत्यु उस समय हुई जब भारतेन्दु की आयु नौ-दस वर्ष की थी। इससे उनकी शिक्षा का क्रम यथोचित रूप से न चल सका। फिर भी कई वर्ष तक उन्होंने क्वींस कॉलेज में शिक्षा पाई। उसके बाद उन्होंने स्वाध्याय से अपने ज्ञान का कोष परिपूर्ण किया। वे कुशाग्र-बुद्धि और प्रखर स्मरणशक्ति वाले थे। प्रतिभा-संपन्न थे इसलिए उन्होंने जो कुछ पढ़ा उसी से यथेष्ट लाभ उठाया। पन्द्रह वर्ष

पूर्वी और पश्चिमी दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है। वैसे भी भारतीय इतिहास के उस संक्रांति-काल में किसी भी शिक्षित, काल-ज्ञान-संपन्न और समझदार व्यक्ति के लिए बिल्कुल ही नवीन या बिल्कुल ही पुरातन बनना कुछ कठिन ही नहीं था वरन् अपने जीवन की गति को अवरुद्ध करना था। नवीन प्रभाव ग्रहण करते हुए भी 'भारतीय' बने रहने में ही उस समय सच्चा देश-हित समझा जाता था। नवीन विचार ग्रहण करने में भारतेंदु की यात्राओं ने उनकी बहुत-कुछ सहायता की। उनकी बंगाल-यात्रा के समय बंगाल नवजीवन से स्पंदित हो रहा था, वह विविध धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक आंदोलनों का केन्द्र बना हुआ था। इस दृष्टि से तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश वास्तव में बंगाल से पिछड़ा हुआ था। अतः प्रगति के लिए उद्योगशील बंगाल का भारतेन्दु को प्रभावित करना स्वाभाविक ही था। राजा राममोहन राय, प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर, केशव-चंद्र सेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर प्रभृति नवजागृति के संदेशवाहकों के देश से वे विधवा-विवाह, शिक्षा आदि सामाजिक एवं धार्मिक सुधार की बातें लाए थे। वहीं वे साहित्य की अवरुद्ध गति को उन्मुक्त होते देख आए थे। वैसे तो वे स्वयं देश की व्यापक काल-गति से प्रभावित थे, किंतु इस यात्रा ने उनके विचारों को निश्चित रूप से स्थिरता प्रदान की। अन्य यात्राओं से भी उन्हें लोगों के भावों और विचारों तथा देश की सामान्य दशा का ज्ञान प्राप्त करने के अवसर प्राप्त हुए।

भारतेंदु के जीवन-संबंधी तथ्यों का संक्षेप में अध्ययन कर लेने पर अब हमें उनके युग का भी साधारण परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए, क्योंकि देश, काल और परिस्थिति के वातावरण के संघर्ष, उनके घात-प्रतिघात, से ही मनुष्य का जीवन प्रगतिशील हुआ करता है।

पश्चिम की अन्य अनेक जातियों की तरह अँगरेज भी यहाँ व्यापार करने आए थे। शुरू में उनका ध्येय राज्य-लाभ के स्थान पर आर्थिक लाभ ही था। किन्तु पोर्चुगीज, फ्रेंच आदि पर विजय प्राप्त कर और भारतीय राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठा कर उन्होंने देश में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। अनेक भारत-वासियों ने अनेक कारणों से उनकी सहायता की। साथ ही अपनी कूटनीति भी उन्होंने पूरी तरह से बरती। लॉर्ड हेस्टिंग्ज (१८१३-१८२३) ने भारत में ब्रिटिश राज्य की नींव दृढ़ की। १८ ३ से १८२३ तक भारत के सुदूर दक्षिण प्रांत से उत्तर में सतलज तक अँगरेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। उसके बाद १८३३ तक बाह्य और आंतरिक शांति के फलस्वरूप शिक्षा का, प्रधानतः ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों से, खूब प्रचार हुआ। इन नवीन परिस्थितियों का देश के जीवन पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। साथ ही नवीन शासकों ने भी भारतवासियों के प्रति अपना नैतिक उत्तरदायित्व निभाने का प्रयत्न किया। उनमें से १८२४ में मद्रास प्रांत के गवर्नर सर टॉमस मुनरो जैसे कुछ व्यक्ति तो भारतीय शासन की बागडोर भारतवासियों के हाथ

में दे देने के स्वप्न देखने और भारतीय जीवन में पश्चिमी घातक प्रभावों की ओर भी संकेत करने लगे थे। इस समय कंपनी के राज्य में भारतवासियों को छोटी-छोटी नौकरियाँ प्राप्त थीं। उनकी स्थिति के अनुकूल उनको शिक्षा भी दी गई थी। देश के वास्तविक शासन में उनका कोई भाग नहीं था। शिक्षा-क्रम भी जो १८१३ में शुरू हुआ था अंततः १८३५ में मैकॉले की नीति के अनुसार परिवर्तित हुआ। इसी नीति के आधार पर १८५४ में चार्ल्स वुड की आयोजना तैयार हुई। इसी काल में लॉर्ड बेंटिक (१८२८-१८३५) ने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को प्रोत्साहन देने का अकथ परिश्रम किया। तात्पर्य यह है कि १८३३ तक देश में शांति और व्यवस्था के फलस्वरूप नवीन शक्तियों का पूर्णरूप से प्रस्फुटन हुआ। १८३३ से बीस वर्ष बाद तक देशवासी इस नवीन व्यवस्था के साथ पूर्ण सहयोग स्थापित करते प्रतीत हुए, यद्यपि, जैसा बाद को ज्ञात हुआ, विपत्ति के बीजों का वपन भी इसी काल में हुआ। सरकारी और मिशनरी स्कूलों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती गई। भारतीय विद्यार्थियों ने भी अपनी प्रतिभा का यथेष्ट परिचय दिया। देश के उच्च वर्गों में पश्चिमी विचारों का तेज़ी के साथ प्रचार होने लगा। तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलन इस बात के साक्षी हैं। १८२९ में लॉर्ड बेंटिक के सती-प्रथा बंद करने के विचार का नवशिक्षित भारतीयों ने समर्थन किया। पश्चिमी शिक्षा ने मार्ग सुझा दिया था। अब आगे बढ़ने का काम स्वयं भारतवासियों का था। और ऐसे व्यक्तियों का

अभाव भी नहीं था। इनमें से कुछ तो उच्चवर्गीय ब्राह्मण थे, जैसे राजा राममोहन राय। भारतेन्दु के जन्म से एक वर्ष पूर्व अर्थात् १८४९ में द्वितीय सिक्ख-युद्ध के बाद देश का शेष भाग भी अँगरेज़ों के हाथ में आ गया था। देशी राज्यों ने अब पूर्ण-रूप से उनकी आधीनता स्वीकार कर ली थी। उनके संबंध में अँगरेज़ों की कोई निर्धारित नीति नहीं थी। वैसे भी देशी राज्यों की शासन-प्रणाली दिन-पर-दिन भ्रष्ट होती चली जा रही थी और उनमें अँगरेज़ों की संगठित शक्ति से मोर्चा लेने का साहस न रह गया था। डलहौज़ी (१८४८-१८५६) के समय में शिक्षा-संबंधी उन्नति तो अच्छी हुई, किंतु पंजाब, अवध तथा अन्य देशी राज्यों के संबंध में बरती गई उनकी नीति से असंतोष फैला। जिस ढंग से देशी राजाओं के राज्य एक-एक करके छीने जा रहे थे उससे सबको चिंता हो रही थी। लेखकों के मतानुसार ऐसा करने में उनका ध्येय देशी राज्यों को हड़प लेना नहीं वरन् पश्चिम के प्रगतिशील प्रभाव के अंतर्गत लाकर उन्हें ऊँचे सांस्कृतिक धरा-तल पर स्थित करना था। खैर, ध्येय कुछ भी रहा हो उनकी नीति से असंतोष को प्रश्रय मिला। उनके लौट जाने के बाद तुरंत ही केनिंग के समय में जो घटना घटित हुई वह भविष्य में अँगरेज़ों और भारतवासियों के पारस्परिक संबंध के लिए घातक सिद्ध हुई।

यद्यपि अँगरेज़ी राज्य में हिंदुओं को पहले से कहीं अधिक धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी, तो भी जो हिन्दू समाज इस्लाम धर्म

की तीव्र गति को बिल्कुल रोकने में तो नहीं किन्तु उसकी गति मंद करने में अवश्य सफल हुआ था वह पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव को एकाएक ग्रहण नहीं कर सकता था। एक तो हिन्दू वैसे ही रूढ़ि-प्रिय होते हैं, दूसरे, नवीन पाश्चात्य विचारों के प्रचार के कारण हिन्दू समाज की गद्दीधारी जातियों, विशेष रूप से ब्राह्मणों, को अपनी सामाजिक स्थिति डाँवाडोल जँचने लगी थी। पश्चिमी दिमागी, नैतिक, और सैनिक प्रभावांतर्गत भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न होते देख समाज के नेता सशंकित हो उठे थे। १८५७ से पहले का पश्चिमी प्रभाव उसके बाद के पश्चिमी प्रभाव से भिन्न है। केवल कुछ गद्दीधारियों की आशंका को छोड़ १८५७ से भारतीय नवशिक्षित पश्चिम का सांस्कृतिक परिचय प्राप्त कर उसकी अनेक बातों को निस्संकोच अपनाते जा रहे थे। इससे प्राचीन देवी-देवताओं की मान्यता पर ही कुठाराघात नहीं हुआ वरन् स्वयं ब्राह्मणों का सामाजिक नेतृत्व संकटापन्न हो गया। जिस प्रकार ब्रिटिश आर्थिक नीति ने भारतीय उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिए थे उसी प्रकार पश्चिमी शिक्षा ब्राह्मणों के प्रभुत्व को मिटाए दे रही थी। वास्तव में पश्चिमी शिक्षा का प्रारंभिक प्रभाव अँगरेजों के लिए अच्छा ही हो रहा था। इस–शिक्षा की नवीनता ने भारतवासियों को मुग्ध कर लिया था। रूढ़िगत सत्ता के स्थान पर स्वतंत्रता और आत्म-निर्णय का अधिकार उनके लिए एक नई चीज़ थी। सब प्रकार के बंधनों से अपने को मुक्त पाकर वे

फूले नहीं समाते थे। और यद्यपि १८५७ के बाद देश में प्रतिक्रिया हुई और उसका ध्यान प्राचीन सभ्यता की ओर गया, तो भी पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव बिल्कुल लुप्त न हो पाया। ऐसा होना संभव भी नहीं था।

पश्चिमी प्रभाव के कारण मुसलमानों को भी इस्लाम खतरे में दिखाई दे रहा था। ईस्ट इंडिया कंपनी के राजत्व-काल के आरम्भ में अनेक मुसलमानों का साहचर्य्य उन्हें प्राप्त था। और अब भी बहुत से मुसलमान सरकारी नौकरियाँ करते थे। किन्तु मुसलमानी उच्चवर्गों के अधिकांश लोगों ने अपने को पश्चिमी शिक्षा से विमुख रक्खा और अपने इतिहास और साहित्य के अध्ययन में ही लगे रहे। ब्राह्मणों की तरह उन्हें भी पश्चिमी प्रभाव कल्याणकर प्रतीत नहीं हो रहे थे। लेकिन जो प्रवृत्ति ब्राह्मणों में काम कर रही थी वही प्रवृत्ति मुसलमानों में चरम सीमा को पहुँच गई। साथ ही उन्हें अपना राजनीतिक पतन भी बुरी तरह अखर रहा था। पश्चिमी शिक्षा से अलग रहने के कारण बहुत दिनों तक उन्हें सरकारी नौकारियों से हाथ धोना और हिन्दुओं के मुक़ाबले सांस्कृतिक और आर्थिक ह्रास का शिकार बना रहना पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क से देश के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में उथल-पुथल मचने लगी। नवीन आविष्कार भी धर्म नष्ट करने के आलंबन समझे गए। सांस्कृतिक कारणों के अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक और राजनीतिक

कारण भी थे, जैसे भारतवासियों को शासन में कुछ भाग न देना, अँगरेज़ी सरकार का भारतीय जनमत से अपने को पृथक् रखना आदि जिनसे भारतवासियों में असंतोष फैल रहा था और जिनका उल्लेख सर सैयद अहमद ने ग़दर के कारणों पर लिखी गई अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'असबावे बग़ावत' में किया है। इन सब कारणों से देश में जिस मानसिक अशांति की लहर फैल रही थी उसका अंत १८५७के विद्रोह में हुआ। वास्तव में विद्रोह-संबंधी विचारों का जन्म हुआ तो हिंदुओं में था किन्तु भाग प्रधानतः मुसलमानों ने लिया था। एक निश्चित ध्येय और संगठन के अभाव के कारण सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से विद्रोह असफल रहा। किन्तु सामाजिक एवं धार्मिक गद्दीधारी नेताओं की दृष्टि से विद्रोह बहुत-कुछ सफल रहा, क्योंकि १८५७ के बाद पश्चिमी विचारों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का एक संगठित प्रयास पाया जाता है। यह ठीक है कि इस समय न तो उग्रवादियों का अभाव था और न ऐसे व्यक्तियों का अभाव था जो भारतीयता के अनुकूल पश्चिम की अच्छी बातें अपना लेने के पक्ष में थे। किन्तु समाज में मध्यकालीन रूढ़ियों की दासत्व-शृंखला में जकड़े हुए व्यक्तियों की ही प्रधानता बनी रही। महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र से सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़िवादियों को ही अधिक प्रोत्साहन मिला, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। उस समय भारतेन्दु केवल सात वर्ष के थे। सात-आठ वर्ष बाद जब उन्होंने होश सँभाला उस समय संगठित सैनिक

शक्ति, वैज्ञानिक साधनों, कुछ देशी राजाओं और सेना के कारण अँगरेजों को विद्रोहियों पर पूर्ण विजय प्राप्त हो चुकी थी, और उनकी कूटनीति खूब फूल-फल रही थी।

विद्रोह के बाद अँगरेज शासकों ने जिस कूटनीति का अवलंबन लिया वह फूट और कलह के लिए उपयुक्त भारतवर्ष की उर्वरा भूमि में अच्छी तरह सफलीभूत हुई। शासकों की इस कूटनीति का प्रभाव पहले-पहल मुसलमानों पर पड़ा। एक तो वैसे ही वे मुसलमानों को राज्य-च्युत करने में संलग्न थे और इस कार्य में वे हिन्दू धनिक-वर्ग की सहायता बराबर ले रहे थे। दूसरे यह भी मानी हुई बात है कि १८५७ के विद्रोह में मुसलमानों का प्रमुख भाग था। इसके अतिरिक्त वाहबी आंदोलन (१८२०-१८६०) के कार्यकर्त्ताओं ने भी उसमें यथेष्ट भाग लिया था। सामाजिक, धार्मिक, और आर्थिक कारणों के इस आंदोलन का जन्म हुआ था। सैयद अहमद ब्रेलवी और इस्माइल हाजी मौलवी मुहम्मद इस आंदोलन के नेता थे जो १८२० में मक्का-यात्रा से वहाँ के नवीन मुस्लिम धार्मिक विचारों से प्रभावित होकर लौटे थे। विद्रोह के तीन वर्ष बाद तक यह आंदोलन जारी रहा। इस आंदोलन का मुख्य ध्येय इस्लाम धर्म की कुरीतियाँ दूर करना था। अनेक मुसलमान केवल नाम मात्र के मुसलमान थे। व्यावहारिक रूप में वे हिन्दुओं के धर्माचारों का पालन करते थे। वाहबी आंदोलन के नेताओं ने उनमें विशुद्ध इस्लाम धर्म का प्रचार करना चाहा। इस उद्देश्य की

पूर्ति के लिए उन्होंने अनेक छोटी-बड़ी रचनाएँ प्रकाशित कीं। कुछ समय के लिए तो वाहबियों ने पंजाब में अपना राज्य भी स्थापित कर लिया था। किन्तु १८३१ में सिक्खों ने उसे उखाड़ फेंका। हिन्दू धर्म-विरोधी होने के साथ-साथ यह आंदोलन यूरोपीय सभ्यता का भी कट्टर विरोधी था। इसलिए राजनीतिक क्षेत्र में यूरोपीय सभ्यता के प्रचारक अँगरेजी राज्य का मूलोच्छेदन करने की इस आंदोलन के नेताओं ने प्राणपण से चेष्टा की हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अंत में उसका पूर्णरूप से दमन कर दिया गया। इन सब कारणों से मुसलमान अँगरेजों के क्रोध-भाजन हुए। भारतेन्दु ने जिस समय अपने सार्वजनिक जीवन का सूत्रपात किया उस समय मुसलमान अपने राज्य से विहीन और ब्रिटिश शासन विधान में राजनीतिक अछूत बने हुए थे। बंगाल के इस्तमरारी बंदोबस्त की व्यवस्था से वे काफ़ी आर्थिक हानि उठा चुके थे। फिर सेना में से भी उन्हें निकाला जाने लगा था। सैनिक दृष्टि से उनकी दुरवस्था समस्त देश में हुई। सरकारी नौकरियाँ देने में भी ब्रिटिश सरकार मुसलमानों के स्थान पर हिन्दुओं को ही पसन्द करती थी। आर्थिक दृष्टि से ही नहीं वरन् शिक्षा-सम्बन्धी और सामाजिक दृष्टि से भी मुसलमानों को सरकारी नीति, और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनकी अपनी सांस्कृतिक आशंका के फलस्वरूप भी हिन्दुओं से पिछड़ जाना पड़ा। सरकारी दफ़्तरों में मुसलमानी त्यौहारों की छुट्टियाँ तक न होती थीं। मैकॉले से पहले अरबी और फ़ारसी की शिक्षा

दी जाती थी। किन्तु १८२८ से ही सरकार ने मस्जिदों को दी गई ज़मीन वापिस लेनी शुरू कर दी। इन मस्जिदों में अरबी-फ़ारसी की शिक्षा होती थी। इससे मुसलमानों को अपनी परंपरागत शिक्षा से वंचित रह जाना पड़ा। उनका जो कुछ शिक्षा-क्रम जारी रहा वह केवल मौलवियों के हाथ में रह गया था। मुसलमानों के साथ यह सरकारी व्यवहार लगभग १८८५ तक जारी रहा। १८८५ तक ही भारतेन्दु जीवित रहे।

मुग़ल साम्राज्य के अन्त और अँगरेज़ी राज्य की स्थापना होने पर पारस्परिक हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध भी एक नवीन दृष्टि-कोण से देखा जाने लगा। मुसलमानी शासन-काल में ज़बर-दस्त चोट खाने पर भी हिंदू धर्म अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ हो सका। उसकी बहुत सी शाखाएँ मुर्झा गई थीं, किंतु उसकी जड़ अब भी स्वस्थ और मज़बूत थी। इससे हिंदू धर्म की सजीवता और सहनशक्ति का परिचय प्राप्त होता है। और ज्यों-ज्यों मुसलमानी राज्य निर्बल होता गया हिंदू अपनी धार्मिकता और राष्ट्रीयता लेकर आगे बढ़ने और उसके प्रति विद्रोह का झंडा खड़ा करने लगे। अँगरेज़ी राज्यांतर्गत शांति स्थापित हो जाने और प्राचीन भारत के ऐतिहासिक, राज-नीतिक और सांस्कृतिक अध्ययन के फलस्वरूप उनकी इस भावना ने और भी प्रमुख रूप धारण कर लिया। सामाजिक एवं धार्मिक हीनावस्था और कुरीतियों का मूल कारण मुस-लमानी शासन को बता कर वे उन्हें दूर करने का प्रयत्न करने

लगे। वे जब काशी की औरंगजेबी मस्जिद, मथुरा की लाल मस्जिद तथा अन्य स्थानों पर हिंदू देवस्थलों के स्थान पर मस्जिदें खड़ी देखते थे तो मुसलमानों के प्रति उनका विद्वेष भड़क उठता था। उनके ऐतिहासिक अध्ययन ने भी उन्हें यही पाठ पढ़ाया था। संभव है विदेशी शासकों ने ये बातें बढ़ा कर कर उनके सामने रखी हों, या वे केवल किवदंतियाँ हों। तत्कालीन हिंदू सोचते थे कि किसी किंवदंती का विस्तार अप्रामाणिक या असत्य हो सकता है। लेकिन क्या उसके आधार में सत्य का बिल्कुल अंश नहीं होता ?

अँगरेज़ों की सांप्रदायिक नीति के अतिरिक्त उस समय देश में उनकी प्रबल सैनिक शक्ति का आतङ्क छाया हुआ था। राजनीतिक दृष्टि से उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने की किसी को हिम्मत नहीं हो रही थी। लोगों स हथियार छीन लिए गए थे और हिंदू-मुसलमान सब पर टैक्स लगाये जा रहे थे। हिंदू शिक्षित धनिक और मध्यम वर्ग ने उन हिंदुओं को मूढ़ कहा जिन्होंने विद्रोह में भाग लिया था और सरकार के प्रति अपनी राज्य-भक्ति प्रकट कर विद्रोह के फलस्वरूप हिंदुओं पर लगाए गए टैक्स का सविनय विरोध किया। किंतु यह भी मानी हुई बात है कि दूसरी ओर उन्हें सरकारी कोप से भय हो रही थी। इसलिए उनका विरोध केवल विरोध मात्र था।

विद्रोह के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना भारतीय शासन का ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकल कर

इँगलैंड के मंत्रि-मंडल के हाथ में चला जाना था। यह घटना १८५८ में हुई। कंपनी के बोर्ड के सभापति की जगह पर भारत सचिव नियुक्त हुआ जो वहां के मंत्रि-मंडल का भी सदस्य होता था। भारतसचिव की सहायता के लिए इंडिया कौंसिल की स्थापना हुई। इस प्रकार कंपनी के फ़ौजी राज्य के स्थान पर वैध शासन-प्रणाली की नींव पड़ी। कंपनी के राज्य से लोग दुःखी हो उठे थे। भारतीय जनता गत कई शताब्दियों के युद्ध-विग्रह और अशांति से ऊब उठी थी। विद्रोह के बाद जब उसे इन क्लेशों से छुटकारा मिला तो उन्होंने अँगरेज़ी राज्य का स्वागत किया। देश की ग़रीबी तो अवश्य दिन-पर-दिन बढ़ती गई, किंतु कंपनी-राज्य का अन्त हो जाने पर अनेक सुधार हुए। नई शासन-व्यवस्था के शुरू में ही महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़ा गया जिससे भारतीय जनता पर राजनीतिक दृष्टि से अच्छा प्रभाव पड़ा और भविष्य के लिए वह नई आशाएँ बाँधने लगी। लॉर्ड लिटन (१८७६–१८८०) ने १८७७ में एक दिल्ली-दरबार भी किया जिसमें भारत के राजा-महाराजाओं ने विक्टोरिया को सम्राज्ञी स्वीकार किया। १८६१ के इंडियन कौंसिल ऐक्ट के बाद समय-समय पर हाई कोर्ट ऐक्ट, दुर्भिक्ष सम्बन्धी व्यवस्था, वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट और लॉर्ड रिपन (१८८०–१८८४) का उसे रद्द करना, स्थानीय स्वायत्त शासन (१८८३) आदि अनेक सुधार हुए। इसके साथ ही देश में सड़कों, रेल, तार, डाक-विभाग आदि की स्थापना से देश में एकसूत्रता स्थापित हुई

और औद्योगिक एवं वैज्ञानिक उन्नति में बहुत सहायता मिली। इँगलैंड और भारत के बीच आने-जाने की सुगमता हो जाने के कारण दोनों देशों का पारस्परिक संबंध बढ़ा। इँगलैंड और युरोप की बनी हुई चीजें धड़ाधड़ देश में खपने लगीं। पश्चिमी विचार-धारा का प्रभाव भी यहाँ के अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों पर वेग से पड़ने लगा। समुद्र-यात्रा का सामाजिक प्रतिबंध भी शिथिल हो चला था। विदेशों से संबंध स्थापित हो जाने पर वहाँ के विज्ञान और साहित्य का हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ने लगा। उधर पाश्चात्य विद्वान् भी देश की कला और संस्कृति का अध्ययन कर उसके प्राचीन गौरव का अध्ययन करने में लग गए। भारतवासियों को देश की प्राचीन ज्ञान-गरिमा की याद दिलाने में इस कार्य ने अच्छा योग दिया। भारतेन्दु के जीवन-काल में इन सब सुधारों और नई शक्तियों का यहाँ के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, और साहित्यिक जीवन पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका।

अन्य सुधारों के साथ-साथ शिक्षा-संबंधी क्षेत्र में भी सुधार हुए। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति अँगरेज़ी शासन-काल के आरंभ में टूट चुकी था। तब भी शिक्षा का आदर बराबर बना रहा। किंतु अब वह समयानुकूल न रह गई थी। मैकॉले की आयोजना के अनुसार नवीन पाश्चात्य शिक्षा की नींव पड़ चुकी थी। १८५४ की चार्ल्स वुड की योजना पर सरकार ने अधिक ध्यान न दिया। अँगरेज़ी ही शिक्षा का माध्यम बनी रही।

१८५८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय और १८८७ में प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। अतः भारतेंदु के जीवन-काल में उच्च अँगरेजी शिक्षा का प्रचार हो चुका था।

अभी ऊपर कहा जा चुका है कि महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र और नई शासन-व्यवस्था का जनता के ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा और भविष्य के लिए नई आशाएँ बँधने लगी। किंतु आशाओं को निराशाओं में परिणत होते देर न लगी। नया वैध शासन स्थापित हो जाने पर भी भारतीय शासन में पार्लमेंट का हस्तक्षेप बना रहा और विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का अच्छा स्वागत होने पर भी १८५७ के विद्रोह से अँगरेजों और भारतवासियों के पारस्परिक सम्बन्ध को जो नैतिक आघात पहुँचा था उसे वह दूर न कर सका। विद्रोह की रोमांचकारी दुर्घटनाओं के फल-स्वरूप एक दूसरे के प्रति संदेह बढ़ा और काले-गोरे की समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया जिसका परिणाम शासन के लिए अच्छा न हुआ। रेलों के प्रसार से पहाड़ों पर रहने की सुविधा मिल जाने से अँगरेजों ने भारतवासियों से अपना सामाजिक संबंध और भी विच्छेद कर दिया जिससे रंग-भेद की समस्या सुलझने के स्थान पर और भी उलझ गई। फिर पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार से भारतवासियों में आत्म चेतना जागरित हो रही थी। वे अँगरेज़ हाकिमों के दुर्व्यवहार को किसी प्रकार भी सहन नहीं कर सकते थे। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावांतर्गत ही भारतवासियों ने अपनी राजनीतिक

माँगें सरकार के सामने रक्खीं और तत्कालीन राजनीतिक आंदोलन को आगे बढ़ाया। यह बात सर्वविदित है कि भारत की आधुनिक राजनीति पश्चिम की देन है। प्रारंभ में जो शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी वह भारतीयों की परिस्थिति के अनुकूल थी। कालांतर में उच्च शिक्षा प्राप्त कर उनकी आकांक्षाएँ बढ़ीं। उस समय सहृदय और बुद्धिमान अँगरेजों को उनके साथ सहानुभूति भी हुई। वे चाहते थे कि देश के शासन में देश के निवासियों का भाग उत्तरोत्तर बढ़े और अन्त में वे पूर्णरूप से देश के शासन की बागडोर सम्हालने योग्य बन सकें। १८३३ और १८५८ में सरकार ने इस ओर आशाएँ दिलाईं थीं। किंतु उसने अपने वचन पूरे न किए। भारतेन्दु ने जिस समय अपना सार्वजनिक जीवन प्रारंभ किया था उस समय भारतवासियों को अपने देश के शासन में भाग लेने का अधिकार न मिलने पर असंतोष फैल रहा था। अँगरेज हाकिमों की अपेक्षा वे अपने देश की समस्याओं को अच्छी तरह समझ सकते थे। जहाँ तक ज्ञान और योग्यता से सम्बन्ध था, भारतीय अँगरेजों से कम नहीं थे। वे उपज भी पाश्चात्य व्यवस्था के थे। फिर भी उन्हें निराश होना पड़ रहा था। नवशिक्षितों के लिए ऊँचे सरकारी दफ्तर बन्द थे। फौज में वे लिए नहीं जाते थे। स्थानीय सरकारी संस्थाओं में जनता का प्रतिनिधित्व बिलकुल नहीं था। लॉर्ड रिपन ने इस सम्बन्ध में कुछ किया भी था। लेकिन फिर भी उससे आगे कुछ न हुआ। चुङ्गी के सदस्यों और सभापति

को सरकार चुनती थी। लेजिस्लेटिव कौंसिल का भी यही हाल था। गवर्नर-जनरल या लेफ्टिनेंट-गवर्नर की परिषदों में कोई भी नियोजित या निर्वाचित भारतीय नहीं था। इंडियन सिविल सर्विस में इनेगिने भारतीय थे। सिविल सर्विस के सम्बन्ध में भारतवासियों के लिए अनेक प्रतिबन्ध थे। इतने पर भी देश में एक तो जनमत नहीं के बराबर था, दूसरे सरकार भी राजनीतिक माँगों के सम्बन्ध में किए गए आंदोलनों को सन्देह की दृष्टि से देखती थी। प्रेस भी सरकारी कानूनों से जकड़ा हुआ था। प्लेटफार्म-वक्तृता का उस समय प्रचार नहीं था। साधारण जनता आंदोलनों में अधिक दिलचस्पी नहीं दिखाती थी। राष्ट्रीय जीवन में समग्र रूप से स्पंदन नहीं था। देश में ऐक्य और, नीति और ध्येय की एकसूत्रता और समानता का अभाव था। अपना-अपना राग सब अलापते थे। आपस के झगड़ों से देश की शक्ति क्षीण हो रही थी। विभिन्न भाषाओं का चलन था। ऐसी अराजकतापूर्ण अवस्था में सरकार का भारतवासियों को दो गज के फ़ासले पर रखना, उन पर आर्म्स ऐक्ट, प्रेस ऐक्ट आदि दमनकारी क़ानून लादना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी, उनका स्थान यूरोपियनों और ऐंग्लोइंडियनों को देना कुछ भी मुश्किल नहीं था। लेकिन नवशिक्षित भारतीय अपनी दुर्बलताओं को पहिचानते हुए भी सरकारी नीति पसंद नहीं करते थे। वे सदैव १८३३ और १८५८ की घोषणाओं को लेकर आगे बढ़ते थे, किंतु सरकार उनकी बातों पर ध्यान नहीं

देती थी। पश्चिमी विचारों से प्रभावित होकर वे नौकरशाही को लोकप्रिय बनाना चाहते थे। वैध आंदोलन द्वारा प्रतिनिधि शासन की स्थापना और देश की राजनीतिक क्रमोन्नति ही उन्हें प्रिय थी। इलबर्ट बिल (१८८३) जैसे आंदोलनों द्वारा वे राष्ट्रीय ऐक्य को जन्म देना चाहते थे। दीवानी और फौजदारी विभागों को अलग-अलग करना चाहते थे। स्थानीय स्वायत्त शासन और स्वदेशी का प्रचार भी प्रमुख विषय थे। इन सब बातों में उन्हें सरकार का सामना करना पड़ता था। तत्कालीन भारत-वासी चाहते थे कि इँगलैंड भारत में अपने नैतिक मिशन को समझकर उसे व्यावहारिक रूप दे और अपने यहाँ के राज-नीतिक उच्च आदर्शों की स्थापना करे। वे इँगलैंड से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं वरन् न्याय, समानता और स्वतंत्रता (तत्कालीन अर्थ में) के सिद्धांतानुसार ब्रिटिश नागरिकों के समान अधिकार चाहते थे। साम्राज्य उनका निर्माण किया हुआ तो नहीं था किंतु उन्होंने उसे अपना लिया था। मध्यमवर्गीय नवशिक्षितों की अल्पसंख्या के हाथ में उस समय देश का नेतृत्व था। अँगरेज़ शासक उन्हें अल्पसंख्यक कहकर बात टाल देना चाहते थे। किंतु उनका कहना था कि देश का नेतृत्व, विशेष रूप से किसी आंदोलन के जन्म के समय, अल्पसंख्यक लोगों के हाथ में ही हुआ करता है। पश्चिमी शिक्षा तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों के बाद भी भारत पूर्ववत बना रहेगा, ऐसा सोचना उनके लिए अब असम्भव हो गया था। ब्रिटिश राज-

नीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं के इतिहास से मुग्ध होकर वे वैसे ही स्वप्न देखने लगे थे। आशा पूर्ण न होते देख उन्होंने विरोध किया। लेकिन उनका विरोध 'His Majesty's Opposition' का विरोध था।

उच्च अँगरेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप शिक्षित समुदाय युरोपीय ज्ञान का महत्व समझने लगे थे। उस समय संस्कृत शिक्षा का ह्रास हो चुका था। प्राचीन भारत के विषय में ज्ञानोपार्जन करने के लिए शिक्षितों को मैक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की कृतियाँ उठा कर देखनी पड़ती थीं। कुछ भारतीय इतिहास-लेखक भी अपनी कृतियों से भारत के प्राचीन ज्ञान-भाण्डार पर प्रकाश डालकर देशवासियों का 'राष्ट्रीय गर्व' बढ़ा रहे थे। अपने पूर्व-पुरुषों की रचनाओं को वे ज्ञान के क्षेत्र में अंतिम वाक्य समझते थे। अरबी, फ़ारसी और उर्दू साहित्य के स्थान में भी अँगरेज़ी साहित्य का अध्ययन होने लगा था। कुछ लोग तो ऐसे भी मौजूद थे जो प्राचीन ज्ञान को रद्दी के टोकरे में फेंकने योग्य समझते थे। संक्षेप में, भारत के प्राचीन ज्ञान के प्रति लोगों की किसी न किसी रूप में अनभिज्ञता ही अधिक थी। उधर दूसरी ओर पश्चिम से आने वाला ज्ञान चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाला था। उनका उस विज्ञान के साथ परिचय हुआ जिसने पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति की अवतारणा की थी और एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों पर साम्राज्यवाद का अंकुश बिठा दिया था। विज्ञान

के अतिरिक्त बर्क, मिल, मौर्ले, स्पेंसर आदि पाश्चात्य विचारकों का भी कुछ कम मात्रा में प्रभाव नहीं पड़ रहा था। मिल के विचारों ने स्त्रियों की स्वाधीनता और प्रतिनिधि शासन की ओर शिक्षितों का ध्यान आकर्षित किया था। पाश्चात्य विचारकों की रचनाओं में उनकी श्रद्धा प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी, यद्यपि इँगलैंड और भारत के बीच लंबा व्यवधान था, तो भी आने-जाने की सुगमता हो जाने के कारण इँगलैंड के तत्कालीन विक्टोरियन सामाजिक आचार-विचारों और राजनीतिक आकांक्षाओं का यहाँ प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यहाँ इतना याद रखना चाहिए कि यह बात उन्हीं शिक्षितों के संबंध में लागू की जा सकती है जिन्हें पश्चिम ने बिल्कुल मोह लिया था। एक दूसरा शिक्षित समुदाय था जो अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने पर भी 'भारतीयत्व' बनाए रखना चाहता था। सारांश यह है कि अँगरेज़ी सभ्यता के स्पर्श से देश का शिक्षित समुदाय एक या दूसरी दिशा में चलने के लिए आतुर हो उठा था। उनमें गतिशीलता आ गई थी। इसके अतिरिक्त जो कुछ देश में था वह पुराना था और बहुत बड़े अंश में पुराना था।

पश्चिमी प्रभावों को छोड़कर देशी प्रभाव भी कम शक्तिशाली नहीं थे। १८२८ में बंगाल में ब्राह्म समाज स्थापित हो चुका था। इस नवीन सुधारवादी आंदोलन का वहाँ के शिक्षित समुदाय पर जो प्रभाव पड़ रहा था उसे भारतेन्दु स्वयं अपनी बंगाल-यात्रा में देख आए थे। फिर उन्हीं के ज़ीवन-काल में स्वामी

दयानंद (१८२४-१८८३) ने आर्य समाज की स्थापना (१८७५) की। ब्राह्म समाज से कहीं अधिक प्रचार आर्य समाज का हुआ। उसने शिक्षितों को ही नहीं वरन् अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित जनता को भी प्रभावित किया। इससे समाज में कट्टरता और ईसाई और मुस्लिम धर्म-प्रचार पर आघात पहुँचा। रूढ़िग्रस्त धर्म से असंतुष्ट लोगों को सुधारों से संतोष प्राप्त हुआ और यद्यपि कुछ लोग स्वामी दयानंद और आर्य समाज को संदेहात्मक दृष्टि से देखते थे, तो भी देश के धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा-संबंधी क्षेत्र में उसकी सेवाएं चिरस्मरणीय रहेंगी। लगभग इसी के साथ साथ थियोसोफ़िकल सोसायटी की नींव पड़ी। १८७६ में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अलकॉट भारतवर्ष आये थे। उन्होंने पाश्चात्य दर्शन की महत्ता प्रकट करने साथ भारतीय दर्शन से भी परिचय प्रकट किया। १८६३ में जब श्रीमती ऐनी बिसेंट भारत आईं तो इस मत का और अधिक प्रचार हुआ। सरशार के आज़ाद मियाँ की भाँति बहुत से लोगों के थियोसोफ़ी को शोबदेबाज़ी, मदारी का खेल और ग़ैब का हाल बताने वाली विद्या समझने और उसका अँगरेज़ी शिक्षित लोगों में ही प्रचार होने पर भी सामाजिक और शिक्षा-संबंधी क्षेत्र में उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। और भी अनेक सुधारवादी आंदोलन उठ खड़े हुए जिन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं के उन्मूलन में योग दिया। ऐसे अनेक आंदोलनों के उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ मैं केवल रामकृष्ण परमहंस, स्वामी

को उखाड़ फेंकने के स्थान पर सम्राट् और ब्रिटिश सत्ता की छत्रछाया में, ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हुए, औपनिवेशिक स्वराज्य से तात्पर्य था। इसलिए उनकी राजनीतिक लड़ाई कुछ राजनीतिक माँगों, सुधारों और विशेष अधिकारों तक सीमित रहती थी और विक्टोरिया-कालीन उदार नीति से वह प्रभावित थी।

देश की असाधारण परिस्थिति का प्रभाव भारतीय नरेशों पर भी पड़ा। एक समय था जब भारतीय सामाजिक जीवन में देशी राज्यों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। किन्तु भारतेंदुकालीन भारत में उनकी महती शक्ति का लोप हो चुका था। देशी राज्यों को दबाने के लिए अँगरेज़ों ने पहले-पहल वणिक-वर्ग का सहारा लिया। वास्तव में सच तो यह है कि साम्राज्यवादी सभ्यता किसी नए उपनिवेश को अधिकृत करते समय वहाँ की सामाजिक सहायता लिया करती है। इस कार्य में सामाजिक संगठन के आर्थिक नेताओं या वणिक-वर्ग का सहारा ही उपयोगी सिद्ध होता है। बहुसंख्यक लोगों को दबाए रखने के लिए साम्राज्यवाद को इन्हीं लोगों के साथ मित्रता स्थापित करनी पड़ती है। भारतवर्ष में पैर जमा लेने पर उन्होंने भारतीय नरेशों की सत्ता का अपहरण करने का निश्चय किया। ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ अपने वायदे पूरे करने के लिए नरेशों ने अँगरेज़ों से बहुत-सा धन कर्ज़ में माँगा। अँगरेज़ों ने प्रसन्नता के साथ उन्हें सूद पर रुपया दिया। फिर अपने कर्ज़ के दबाव में

उन्होंने राजा-महाराजाओं को कठपुतली की तरह नचाया और आधिपत्य स्वीकार करने के लिए उन्हें बाध्य किया। उन्हें या तो कर्ज नक़द चुकाना पड़ता था या ब्रिटिश अफ़सरों के आधीन एक सेना रखने का भार उठाना पड़ता था। इस प्रकार अस्तित्व बनाए रखने पर भी वे सत्ताहीन हो गए थे। भारतवर्ष जैसे देश में इस उच्चवर्ग के निर्जीव हो जाने से कुछ समय के लिए जन साधारण के जीवन पर घातक प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था।

किंतु अँगरेज़ जाति के संपर्क से सबसे अधिक परिवर्तन यदि कहीं हुआ तो वह आर्थिक क्षेत्र में। अँगरेजों के आने से पूर्व भारतवर्ष में अनेक राजनीतिक क्रांतियाँ हुई थीं। किंतु आर्थिक संगठन के ज्यों के त्यों बने रहने से जनसाधारण का जीवन ऐसी क्रांतियों से अछूता रह जाता था। सत्रहवीं शताब्दी के लगभग अंत में साम्राज्यवादी इँगलैंड का जन्म हुआ और उसे उपनिवेशों की आवश्यकता हुई। सौभाग्य से भारतवर्ष उन्हें धनधान्य से पूर्ण एक उपनिवेश मिल गया। यहाँ उनकी साम्राज्यवादी राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक नीति खूब फूली-फली। उसका जो परिणाम हुआ उसे भारतेंदु प्रत्यक्ष अपनी आँखों के सामने देख रहे थे।

अँगरेजों के साथ संपर्क स्थापित होने से पूर्व भारतवर्ष उद्योग-धंधों की दृष्टि से बहुत उन्नत देश था। उस समय यहाँ का बना हुआ माल संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों को जाता था। भारत का तैयार किया हुआ कपड़ा इँगलैंड में भी खूब खपता

था। इस देश के बने हुए रंगीन और बारीक कपड़े पहिनने का इँगलैंडनिवासियों को बहुत शौक था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक भारत का विदेशों से इसी तरह व्यापार बना रहा। चर्खा चलाने और कर्घे पर काम करने वाले जुलाहे यहाँ के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के आधार थे। कपड़ा तैयार करने के अतिरिक्त अन्य अनेक उद्योग-धंधे भी प्रचलित थे। अँगरेजों के आने पर वाष्प-शक्ति (स्टीम पावर, स्टीम एञ्जिन आदि) तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों और 'फ्रीट्रेड' जैसी आर्थिक नीतियों का प्रचार हुआ जिससे जुलाहे तथा अन्य कारीगर उनके सामने खड़े न रह सके। फलतः इँगलैंड और यूरोप के बाजारों में से भारत की बनी हुई चीजों का लोप होने लगा और माल उलटा विदेशों से यहाँ आने लगा। इसके अतिरिक्त चाय के व्यापार और चीन के साथ होने वाले, समुद्र-तटों, आसपास के टापू-मंडलों और स्वयं देश के आंतरिक व्यापार पर भी ईस्ट इंडिया कंपनी के बड़े-बड़े पदाधिकारियों का कब्जा हो गया था। नमक, अफीम आदि के व्यापार से उन्होंने खूब धनोपार्जन किया। अँगरेजों ने बड़े-बड़े तिजारती ठेके मनमाने दामों पर लिए। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि अँगरेज व्यापारी मंडी का तमाम अनाज खरीद लेते थे जिससे उस प्रदेश में एक प्रकार का अकाल सा पड़ जाता था। तब उसके बाद अँगरेज व्यापारी मनमाने दामों पर अनाज बेचते थे। इस प्रकार की आर्थिक नीतियों का भारतीय उद्योग-धंधों पर बहुत बुरा असर पड़ा। १८१८ से १८३६ तक इँगलैंड से

पहले की अपेक्षा बावन सौ गुना अधिक 'ट्विस्ट' कपड़ा भारतवर्ष आया। १८२४ में इँगलैंड की बनी हुई दस लाख गज मसलिन यहाँ आई थी। १८३७ में वह छः करोड़ चालीस लाख गज से भी अधिक आई। एक समय था जब ईस्ट इंडिया कंपनी यहाँ से साठ से अस्सी लाख तक थान केलीको के खरीदती थी। एक समय आया जब थानों की संख्या दस लाख ही रह गई। बाद में इनकी खरीद भी बंद हो गई। १८०० में आठ लाख सूती कपड़े के थान अमरीका गए थे। १८३० में वे चार हजार रह गए। इसी प्रकार १८०० में दस लाख थान पुर्तगाल गए थे। १८३० में उनकी संख्या बीस हजार रह गई। आर्थिक दुर्दशा के फलस्वरूप ढाका की आबादी एक लाख पचास हजार से घट कर बीस हजार रह गई। यही दशा मुर्शिदाबाद, सूरत तथा अन्य अनेक भारतीय औद्योगिक केन्द्रों की हुई।

इस नवीन आर्थिक व्यवस्था का एक और अनिष्टकारी प्रभाव हुआ। भारत में अधिकतर लोग गाँवों में रहते थे और अब भी रहते हैं। इन छोटे-छोटे गाँवों की स्वतंत्र सत्ता थी। वहाँ पंच होते थे जो आपस के झगड़ों का फैसला करते थे, उनकी अपनी 'पुलीस' होती थी जो अपराधियों को दंड देती थी, एक कर्मचारी मालगुजारी की वसूलयाबी की देखरेख करने वाला होता था, एक हिसाब रखने वाला तथा इनके अतिरिक्त हर एक गाँव में अपने-अपने गुप्तचर, गाँवों के रक्षक, ब्राह्मण, शिक्षक, ज्योतिषी आदि होते थे। इस व्यवस्था का सीधा संबंध किसानों,

कारीगरों, जुलाहों आदि से था। इसी को इतिहास में भारतीय ग्राम-संगठन या व्यवस्था कहा गया है। कृषि-सम्बन्धी और व्यापारिक उन्नति के हितकारी सार्वजनिक साधनों के लिए वे केन्द्रीय सरकारी व्यवस्था पर निर्भर रहते थे। इस व्यवस्था का नाश अँगरेजी फ़ौजों या नये करों द्वारा न होकर वाष्प शक्ति और फ्री ट्रेड के फलस्वरूप उद्योग-धंधों और कृषि के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध से होने वाली उत्पादन-शक्ति के टूट जाने से हुआ। दूसरे शब्दों में, भारतीय सामाजिक संगठन की रीढ़ टूट गई। इसके अतिरिक्त देश में कहीं बड़े, कहीं छोटे जमींदार बन जाने और कहीं जनता की सामूहिक संपत्ति के नष्ट हो जाने से भी ग्राम-व्यवस्था का ध्वंस हुआ। अपना पालन आप करने की शक्ति छिन जाने से उनके जीवन का ही अंत हो गया। कहना न होगा कि वाष्प शक्ति तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों द्वारा अवतरित इस ग्राम्य-क्रांति का सबसे अधिक बुरा प्रभाव उस समय सूत कातने और कपड़ा बुनने वालों यानी जुलाहों पर पड़ा। १८१३ तक भारत का बना हुआ माल बराबर बाहर जाता था। उसके बाद माल बाहर से आने लगा। देश में जहाँ अच्छे से अच्छा कपड़ा बनता था वहाँ विदेशी माल खपने लगा। यहाँ तक कि १८२३ में रुपए की विदेशी विनिमय दर २ शि० ६ पें० के स्थान पर २ शि० ही रह गई। इँगलैंड से आए हुए कपड़ों पर महसूल भी बहुत कम लगाया जाता था। नतीजा यह हुआ कि १८५० तक भारतवर्ष का पहले

रुपया भी मिलने लगा। देश के बाजारों में जो सस्ता विदेशी माल आ रहा था उसकी बिक्री को इन नवीन साधनों से यथेष्ट प्रोत्साहन मिला। यह याद रखने की बात है कि पूँजीवादी साम्राज्यवादी सभ्यता ने भारत में वैज्ञानिक साधनों का वहीं तक प्रचार किया जहाँ तक उसे आर्थिक लाभ होने की सम्भावना थी। नहरों से पैदावार बढ़ी। मगर किसानों में खेती करने के नवीन वैज्ञानिक साधनों का प्रचार न किया गया। रेलों से माल के एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में खर्च की कमी और सहूलियत हुई। किन्तु रेलों के प्रचार से जिस नवीन औद्योगिक संगठन की आवश्यकता थी उस ओर बिलकुल ध्यान न दिया गया। ये सब बातें भी इस ढंग से की गई कि उपनिवेश के लोग अधिकाधिक साम्राज्यवादी आर्थिक नीति पर निर्भर रहें। रेलों, जहाजों, बंदरगाहों इत्यादि का निर्माण सैनिक दृष्टि से अर्थात् सेना को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने, जगह-जगह सेना न रखकर किसी एक स्वास्थ्यप्रद स्थान पर उसे रखने आदि की दृष्टि से भी सरकार को लाभ हुआ। यह ठीक है कि यातायात के इन नवीन वैज्ञानिक साधनों के प्रचार से दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थानों पर अनाज पहुँचाने, छोटे-छोटे गाँवों का उनकी सीमित परिधि से बाहर की दुनिया से सम्पर्क बढ़ने और फलतः सामाजिक प्रगति होने में बहुत सहायता मिली, किन्तु यह बात घुणाक्षरन्याय से ही कही जा सकती है। मुख्य ध्येय देश से आर्थिक लाभ उठाना था।

की अपेक्षा चौथाई निर्यात-व्यापार रह गया। इससे देश के आर्थिक अधःपतन और फलतः जीवन के अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों में भारतीय अधःपतन का अनुमान लगाया जा सकता है।

ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम द्वारा व्यवहृत इँगलैंड के पूँजीपतियों की आर्थिक नीति का यह परिणाम हुआ कि भारत की क्रियात्मक शक्ति का ह्रास होने लगा, उपनिवेशों को अपना माल देते रहने के साथ-साथ पूँजीपति देश को उनकी उत्पादन-शक्ति बढ़ाने की चिंता भी करनी चाहिये। ऐसा न करने से वही परिणाम होता है जो उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के सम्बन्ध में हुआ। विदेशी माल की बिक्री तो यहाँ दिन-पर-दिन बढ़ती गई, किन्तु यहाँ के बने हुए माल की बिक्री कुछ न रह गई। फलतः उत्पादन-शक्ति और फिर ख़रीदने की शक्ति कम हुई। १८५० के लगभग एक भारतीय ६ पे० वार्षिक इँगलैंड की बनी चीज़ों पर ख़र्च करता था। १८४६ और उसके पहले उससे कहीं अधिक ख़र्च होता था। इससे इँगलैंड के पूँजीपति चिंतित हुए और उन्होंने भारत की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचे। इन उपायों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपाय नहरों और रेलों का निर्माण करना निश्चित हुआ। इन साधनों के अभाव से भारत की उत्पादन शक्ति दबी हुई पड़ी थी। यहाँ की प्राकृतिक सम्पत्ति का अभी उचित रूप में उपयोग नहीं हुआ था। नहरों, रेलों आदि के बन जाने से यहाँ का कच्चा माल इँगलैंड जाने लगा और लोगों को कुछ

कर कारीगरों और कृषकों—समाज के प्रधान अङ्गों—की जो दशा होगई थी वह किसी भी सहृदय व्यक्ति की आत्मा को सिहरा देने वाली थी। शिक्षितों की बेकारी तो सर्वविदित है। इससे देश की दशा और भी शोचनीय हो गई।

इस पर देश की जनता को शासन-व्यय का भारी बोझ उठाना पड़ता था, वह भी उस समय जब कि सार्वजनिक हित-साधनों का अभाव था, तरह-तरह के कर लागू थे और भारतीय जनता यह सब कुछ समझ न सकने के कारण अ-सहायावस्था में और हतबुद्धि होकर आँखें फाड़कर शून्य में देख रही थी। इँगलैंड के पूँजीवादी वर्गों के आपस के संघर्ष से देश पिसा जा रहा था। भारत की पुण्यभूमि में ही साम्राज्यवादी युद्धों का ताँता नहीं बँधा हुआ था, वरन् संसार के अन्य भागों में भी साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप होने वाले युद्ध छिड़े हुए थे। कहना न होगा कि अनेक युद्ध तो केवल सोने की चिड़िया भारत को अन्य साम्राज्यवादी गिद्धों की निगाह से बचाने के लिए लड़े गए। नाम होता था कि यह भारत की 'सेवा' की जा रही है। व्यापारिक दृष्टि से भी भारत को जो लाभ होता था वह भी इन 'सेवाओं' के बदले में ले लिया जाता था और इस प्रकार भारत इँगलैंड का कर्ज़दार बना रहता था। पराधीन होने के कारण देश का मुँह बंद रहता था। ईस्ट इंडिया कंपनी के राजत्व-काल की 'सेवाओं' में प्रथम अफ़ग़ान-युद्ध, पहले दो बर्मा-युद्ध और चीन, फ़ारस, नैपाल, लंका, मलक्का, सिंगापुर, जावा,

साम्राज्यवादी सभ्यता का हर उपनिवेश में यही रवैया रहा है।

अँगरेजों की आर्थिक नीति का कृषि पर भी कोई अच्छा प्रभाव न पड़ा। भारत के उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने पर बेकार कारीगर गाँवों में जाकर बसने और खेती करने लगे। फलतः उस क्षेत्र में भी काम करने वालों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ गई, विशेष रूप से उस समय जब कि खेती करने के साधन पुराने और सीमित थे। साथ ही लगातार जोतने बोने से ज़मीन की उर्वरा शक्ति का ह्रास होने लगा था। सरकारी नहरों से सिंचाई की दर अधिक होने से सब किसान उसका भी फ़ायदा नहीं उठा सकते थे। इससे देश की खेती-बारी पर वज्रपात हुआ। पैदावार कम होने के साथ-साथ अशिक्षित जनता में बेकारी भी बढ़ी। इस पर दुर्भिक्ष पड़ जाने पर तो उनके कष्ट और भी बढ़ जाते थे। भारत में दुर्भिक्ष पहले भी पड़ते थे, किन्तु जितना भयावह परिणाम उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ उतना पहले कभी न हुआ था। बात यह थी कि उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व किसानों के पास इतना अनाज बच रहता था कि दुर्भिक्ष पड़ने पर उन्हें भूखों नहीं मरना पड़ता था। इस शताब्दी में उनके हाथ से सब कुछ निकल जाने लगा। फलतः जब दुर्भिक्ष पड़ता तो पहले से कहीं अधिक प्राणी काल-कवलित होते थे। रेलों का सम्बन्ध केवल कुछ प्रमुख स्थानों से था। अस्तु, नवीन आर्थिक परिस्थितियों के बीच पड़

अफ़सरों की पेंशन का भार भी जनता पर पड़ा। साम्राज्यवादी सेना, पुलीस और औपनिवेशिक नौकरशाही का वेतन अलग रहा। किसानों की बेदख़ली, दुर्भिक्ष, तरह-तरह की बीमारियों, विशेषतः निर्धन किसानों में, मज़दूरों की शोचनीय दशा तथा अन्य अनेक समस्याएँ, जो साम्राज्यवादी शासन में पैदा होती रहती हैं और जिनके निराकरण का शासन की ओर से कोई प्रयत्न नहीं किया जाता, देश के कोढ़ में खाज का काम कर रही थीं। इससे जनता के आर्थिक शोषण और दुरवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दुरवस्था का देश के सांस्कृतिक जीवन पर जो प्रभाव पड़ा वह एक चिंतनीय विषय है।

वैसे तो विविध आंदोलनों का जन्म सामान्य राष्ट्रीय जागृति के कारण हुआ था और जो अन्त में विशेष परिस्थिति-वश, राजनीतिक आंदोलन में घुलमिल गए, किन्तु स्वदेशी आन्दोलन का जन्म प्रधानत: अँगरेजों की आर्थिक नीति के कारण हुआ। इस आन्दोलन के औद्योगिक और राजनीतिक दोनों पहलू थे। जिस दिन भारतवर्ष में पहले-पहल रेल का निर्माण हुआ उसी दिन से यहाँ के आधुनिक मशीन-युग का सूत्र-पात समझना चाहिए। रेलों के साथ-साथ उनके कल-पुर्जे बनाने वाले कारखाने भी स्थापित हुए। भारत के अल्पसंख्यक धनी और पूँजीपति व्यवसायियों ने इससे लाभ उठा कर अपनी फ़ैक्टरियाँ और मिलें स्थापित कीं। जिस समय उन्हें अपना

केप कॉलोनी और मिश्र की छोटी-छोटी लड़ाइयों की गणना की जाती है। इन सबका खर्च भारतवर्ष को देना पड़ा था। १८५७ के विद्रोह के दबाने का चार करोड़ और कंपनी के राज्य का अन्त होने पर उसकी पूँजी और मुनाफ़े के बदले तीन करोड़ सत्तर लाख रुपया भी भारतीय कोष से दिया गया। सम्राट् की अधीनता में चले जाने पर भी भारतीय शासन का पुराना क्रम जारी रहा। ऐबीसीनिया (१८६७), ईराक़ (१८७५), अफ़ग़ानिस्तान (१८७८), मिश्र (१८८२), सूडान (१८८५) और बर्मा (१८८६) के युद्धों का फ़ौजी खर्च भी इसी देश को सहन करना पड़ा। इस अन्याय के विरुद्ध अँगरेजों तक ने आवाज उठाई, किन्तु शासकों पर कुछ भी प्रभाव न हुआ। उत्तर-पश्चिम-सीमान्त प्रदेश की सैनिक नीति (फ़ार्वर्ड पॉलिसी) लंदन के इंडिया ऑफ़िस, फ़ारस भेज हुये मिशन, चीन में राजदूत रखने, अदन के शासन, अनेक ब्रिटिश कंपनियों को दी गई आर्थिक सहायता आदि का करोड़ों रुपए का खर्च भारतीय जनता के ऊपर लादा गया। भारत का इन सबसे क्या सम्बन्ध या लाभ था इसका उत्तर देने की चेष्टा करना व्यर्थ है। अकेले इंडिया ऑफ़िस का वार्षिक व्यय लाखों पौंड पड़ता था। इँगलैंड के पूँजीपतियों की सन्तान को नौकरियाँ भी यहीं दी जाती थीं। देशी राज्यों के आपस के झगड़े, गोद लेने आदि की झंझटों का निबटारा करने के लिये सेनाएँ रक्खी गईं। अनेक नाममात्र के राजाओं, फ़ौजी तथा सिविल सर्विस के

सभी वर्ग शिकार हुए, किन्तु तीसरे और प्रधानतः चौथे वर्ग के लिए तो वे निश्चित रूप से घातक सिद्ध हुए। पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क से नवचेतना और जागृति उत्पन्न हुई, समाज अपनी बिखरी शक्ति बटोर कर गतिशील हुआ, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता। किन्तु यह गतिशीलता एक तो समाज के अत्यल्पसंख्य कलोगों तक सीमित थी, दूसरे उस सजगता, सप्राणता एवं सजीवता का जनसाधारण से लगाव नहीं था। और न उसकी शक्ति का कोई विशेष प्रकटीकरण राजनीतिक क्षेत्र में ही हुआ। उस समय बहुत कुछ स्वभाविक होने के साथ साथ इसके कारण भी विद्यमान थे। प्राचीन ग्राम-व्यवस्था टूट जाने और औद्योगीकरण के अभाव में जनता में सामूहिक चेतना जागरित न हो सकी। उच्चवर्ग नवीन शासन से आतंकित और अपने वर्गीय स्वार्थ में लीन थे। सजीव अँगरेज़ जाति ने गर्व के वशीभूत होकर जनता से अपने को अलग रक्खा। फलतः उसके सम्पर्क का रचनात्मक और क्रियात्मक प्रभाव न पड़ सका। मध्यकालीन भारत में जो सांस्कृतिक चेतना हुई थी उसका अँगरेज़ों के शासन-काल में अभाव रहा। केवल शुरू में जहाँ-जहाँ अँगरेजों का बराबरी के दर्जे पर जनता से सम्बन्ध स्थापित हुआ वहाँ-वहाँ आशाजनक सांस्कृतिक प्रभाव दृष्टिगोचर हुए। अवध में अमानत कृत 'इन्दर सभा' इसी प्रभाव के कारण एक मुस्लिम राज-दरबार में जन्म ले सकी थी। किन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि यह सांस्कृतिक सम्बन्ध

व्यापार बढ़ाने की चिंता हुई उस समय भारतीय सरकार इँगलैंड के पूँजीपति मिल-मालिकों के दबाव के कारण मैंचेस्टर और लङ्काशायर के बने हुए कपड़े का प्रचार कर रही थी। महसूल, चुंगी आदि नीतियों से भारतीय व्यवसाय को पनपने का कोई अवसर ही नहीं मिल रहा था। परिणाम-स्वरूप व्यवसायीवर्ग ने, जो शिक्षित था, अपने हितों की रक्षा की माँगें सरकार के सामने सविनय रक्खीं और देशवासियों से स्वदेशी वस्तुओं, विशेष रूप से कपड़े, के इस्तेमाल के लिए अपील की। यहीं से स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु के समय में इस आंदोलन ने अच्छी प्रगति कर ली थी।

वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रगतिपूर्ण एवं रचनात्मक और ध्वंसात्मक दोनों ही प्रभाव पड़े। किन्तु साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप ध्वंसात्मक प्रभाव ही प्रमुख और प्रधान रहा। भारत ने जो थोड़ी-सी उन्नति की भी है उसके लिए उसे कितना भारी मूल्य देना पड़ा है, यह विचारने की बात है।

अस्तु, उपर्युक्त विश्लेपण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में दो सभ्यताओं के सम्पर्क से महान् अभूतपूर्व आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए। समाज चार प्रधान वर्गों में बटा हुआ था—एक, राजा महाराजाओं का वर्ग; दूसरा, जमींदारों का वर्ग; तीसरा, व्यवसायी वर्ग; और चौथा, किसानों, कारीगरों आदि के शेष निम्न वर्ग। चौथा वर्ग ही संख्या में सर्वाधिक था। नवीन परिवर्तनों के वैसे

सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के और आर्य्य समाज के विचारों में कोई अधिक अन्तर नहीं था। सनातनधर्मी वैष्णव होते हुए भी आर्य्य-समाज की अनेक बातों में उन्हें स्वयं विश्वास था। किन्तु अनेक मतों का होना वे अपनी जाति के लिये श्रेयस्कर नहीं समझते थे। आर्य्य समाज से उनका विरोध यहीं तक था।

अस्तु भारतेन्दु-काल में जो १८५७ के विद्रोह के बाद का काल था, जनता की आर्थिक दुरवस्था थी, करों का भार लदा हुआ था, सस्ते विदेशी माल के प्रचार से भारतीय व्यापारियों को धक्का पहुँच रहा था, देश के उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये थे। अँगरेजों का आतंक छाया हुआ था, और राजनीति, शिक्षा और सरकारी नौकरियों तक साधारण मनुष्य की कोई पहुँच नहीं थी। ऐसे निराशा और अन्धकार पूर्ण वातावरण में लोग वर्णव्यवस्था, धर्म और सांप्रदायिक विषयों की ओर झुके। इसके अतिरिक्त उनकी आन्तरिक संतुष्टि का और कोई साधन ही न रह गया था। इससे न तो सरकार को किसी का डर था और न किसी को सरकार का डर था। विक्टोरिया के घोषणा-पत्र ने भी ठीक इसी समय शासन की ओर से धार्मिक और सामाजिक सहिष्णुता का परिचय दिया। अँगरेजी सरकार ने भारतीय धार्मिक और सामाजिक कुप्रथाएँ और कुरीतियाँ मिटाने का कोई प्रयत्न न किया। जनता में धार्मिक अन्ध-विश्वास और रूढ़िगत विचार बने रहे। समाज जहाँ था वहीं रहा।

कम स्थानों पर और अस्थायी रूप से स्थापित हुआ और आगे चल कर उतना भी न रहा। अँगरेजी शिक्षा के कारण भी भारतीय नवोत्थान उस समय उग्र राजनीतिक रूप ग्रहण न कर सका। इस नवीन शिक्षा ने देशी भाषाओं के प्रति लोगों में उदासीनता उत्पन्न कर दी थी। इससे जनता और भी अज्ञान और अविद्या के गर्त में डूबती गई। अँगरेजी शिक्षित नवयुवकों और जनता के बीच सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के कारण भी अँगरेजी शिक्षा का वह परिणाम न हुआ जिसकी आशा थी। हिन्दुओं ने इस नवीन शिक्षा से भरपूर लाभ उठाया। परन्तु नवशिक्षित युवक स्वधर्माचारों से विमुख और विदेशी पद्धतियों के गुलाम बन गए। सांस्कृतिक चेतना से प्रभावित शिक्षित वर्ग इन 'बिगड़े हुए' शिक्षित युवकों के सुधार में लग गए। जनता की ओर उनका अधिक ध्यान न जा सका। और वस्तुतः देखा जाय तो जनता की ओर जो कुछ थोड़ा बहुत ध्यान दिया गया वह उन्हीं लोगों ने दिया जिन्होंने अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने पर भी भारतीयता और देशी भाषा एवं साहित्य से अपना सम्बन्ध बनाए रक्खा अथवा जो अँगरेजी शिक्षा प्राप्त न करने पर भी नवीन युग की चेतना से अनुप्राणित थे। नवोत्थान काल में जितने भी सार्वजनिक आन्दोलनों का जन्म हुआ उन सभी ने अन्ततः किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय रूप ग्रहण किया। हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाला आर्य्य समाज आन्दोलन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह आन्दोलन जनता का आन्दोलन था।

त्पादक एवं हृदय-विदारक दृश्य देखे। भारतेन्दु में काल-ज्ञान था, विचार-स्वातंत्र्य था और वे भारत की 'स्वाधीनता' के स्वप्न देखने लगे थे। वे अपने समय के एक आदर्श देशभक्त थे। उन्होंने देशभक्ति, लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार, 'स्वतंत्रता' आदि की वाणी सुनाई। अन्य कवियों और लेखकों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया। यद्यपि अपने सामाजिक, धार्मिक, और साहित्यिक जीवन में वे पुरातनत्व का बन्धन एक दम न तोड़ सके—पुरातनत्व से एकदम सम्बन्ध तोड़ देना एक तो किसी काल के किसी भी मनुष्य के लिए सहज नहीं है, दूसरे हिन्दी नवोत्थान के प्रथम चरण में यह सम्भव भी नहीं था—तो भी उन्होंने अपने जीवन और साहित्य को नवीनोन्मुख किया। जिस नवीन विचारधारा को उन्होंने जन्म दिया वही एक से दो और दो से शतधा होकर प्रवाहित हुई।

अतः भारतेन्दु-काल में दो विचार-धाराएँ प्रचलित थीं। एक तो राष्ट्रीय और दूसरी वर्ण, धर्म, एवं सांप्रदायिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली विचार-धारा। पहली के सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि हिन्दुओं की विशेष परिस्थिति के कारण वह बहुत-कुछ हिन्दुत्व लिए हुए थी, 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान' की आवाज़ बुलन्द थी, और उसमें भी राजनीतिक राष्ट्रीयता के स्थान पर, जो प्रधानतः बीसवीं शताब्दी की देन है, आर्थिक और धार्मिक राष्ट्रीयता ही प्रमुख थी। वह मध्यमवर्गीय व्यवसायी समाज की राष्ट्रीयता थी। इसी राष्ट्रीयता को सरकार का सामना करना पड़ा था। दूसरी विचार-धारा ने सांप्रदायिक निर्वाचन, सरकारी नौकरियों आदि की माँगों को जन्म दिया। दोनों विचारधाराएँ तत्कालीन भारत में प्रचलित थीं और कहीं-कहीं आपस में एक दूसरे को छू कर फिर अलग हो जाती थीं।

यह है भारतेंदु का जीवन और उनका युग—हिंदी नवोत्थान का प्रथम चरण। हिन्दी नवोत्थान के इस प्रथम चरण का अवतारणा में उनका हाथ था। भारतीयता और भारत की दुरवस्था का ध्यान उन्हें सदैव बना रहता था। उन्होंने अपने चारों ओर रूढ़ि-ग्रस्त मूढ़ जनता, मानसिक दासत्व और निष्क्रियता के बन्धन में जकड़े हुए लोगों, पाश्चात्य सभ्यता के गुलामों, पुलिस और अदालती लोगों की लूट-खसोट, देश के स्वार्थी अमीरों, सर्वत्र धार्मिक मिथ्याचार, अनाचार, छल और कपट, भारत की दीन आर्थिक अवस्था आदि मर्मान्तक, पीड़ो-

अयो मामूँ चढ़ि हिंदुन पै चौबिस बेरा सैन सजाय।
खुम्मानराय तेहि चाप-धार लखि सब बिध दियो हराय॥
लाहौर-राज जयपाल गयो चढ़ि खुरासान पर धाय।
दीनो प्रान अनन्दपाल पर छाँड्यौ देस धरम नहिं जाय॥[१]'

'...सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
जहँ भए शाक्य हरिचंदरु नहुप ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती॥
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती॥[२]'

हाय! भारत को आज क्या हो गया है?...हाय यह वही भारत है जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था?

'भारत के भुज-बल जग रच्छित।
भारत विद्या लहि जग सिच्छित॥
भारत तेज जगत विस्तारा। भारत भय कंपत संसारा॥
जाके तनकहिं भौंह हिलाए। थर थर कंपत नृप डरपाए॥

१—'वर्षा-विनोद' (१८८०), भारतेंदु-ग्रंथावली, दूसरा खंड, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, (सं० १९९१), ५१, पृ० ५०२.

२—'भारतदुर्दशा' (१८८०), भारतेन्दु-नाटकावली, इंडियन प्रेस, प्रयाग (१९२७), पृ० ५६७-५६८

२. भारत का पतन

हिन्दी साहित्य में नवयुग की अवतारणा के समय सबसे पहले कवियों और लेखकों में विचार-स्वातंत्र्य का जन्म हुआ। तत्कालीन भारतवासी इसी विचार-स्वातंत्र्य के प्रकाश में देश के जीवन का संस्कार करने लगे थे। उस समय जब वे देश की अधोगति पर दृष्टिपात करते थे तो उनका ध्यान बरबस विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव की ओर लक्षित होकर भारत के प्राचीन आर्य गौरव की ओर आकृष्ट हो जाता था और पृथ्वी-राज, राणा प्रताप, शिवाजी, रणजीतसिंह आदि वीरों की याद और वीरतापूर्ण भीषण युद्धों के ज्वलंत उदाहरणों में उनका राष्ट्रीय गान ध्वनित हो उठता और काव्यमय भावोच्छ्वास फूट पड़ता था। भारतेंदु ने भारत के प्राचीन गौरव और वीर कृत्यों के संबंध में लिखा है—

> 'धन धन भारत के सब छत्री जिनकी सुजस धुजा फहराय।
> मारि मारि कै सत्रु दिए हैं लाखन वेर भगाय॥
> महानंद की फौज सुनत ही डरे सिकन्दर राय।
> राजा चंद्रगुप्त ले ाए बेटी सिल्यूकस की जाय॥
> मारि म्लेच्छन विक्रम रहे शकारी पदवी पाय,
> बापा कासिम-तनय मुहम्मद जीत्यौ सिन्धु दियौ उतराय

जग के सबही जन धारि स्वाद।
सुनते इनहीं को बीन नाद ॥
इनके गुन होतो सबहि चैन।
इनहीं कुल नारद तानसैन ॥
इनहीं के क्रोध किए प्रकास।
सब काँपत भूमंडल अकास ॥
इनहीं के हुंकृति शब्द घोर।
गिरि काँपत हे सुनि चारु ओर ॥
जब लेत रहे कर में कृपान।
इनहीं कहँ हो जग तृन समान ॥
सुनि कै रनबाजन खेत माहिं।
इनहीं कहँ हो जिय संक नाहिं ॥'

× × ×

'याही भुव महँ होत है, हीरक आम कपास।
इतही हिमगिरि गंगजल, काव्य गीत परकास ॥
जाबाली जैमिनि गरग, पातंजलि सुकदेव।
रहे भारतहि अंक में, कबहिं सबै भुवदेव ॥
याही भारत मध्य में, रहे कृष्ण मुनि व्यास।
जिनके भारत गान सों, भारत बदन प्रकास ॥
याही भारत में रहे, कपिल सूत दुरवास।
याही भारत में भए, शाक्य सिंह संन्यास ॥

जाके जय की उज्जल गाथा। गावत सब महि मंगल साथा॥
भारत किरिन जगत उँजियारा। भारत जीव जिअत संसारा॥
भारत वेद कथा इतिहासा। भारत वेद प्रथा परकासा॥
फिनिक मिसिर सीरीय युनाना। भे पंडित लहि भारत दाना॥
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा। ज्वलित अनल समान अवनीसा॥
साहस बल इन सम कोउ नाहीं। तबै रह्यौ महि मंडल माहीं॥'[1]

हाय! यहीं के लोग किसी काल में जगन्मान्य थे।

'जेहि छिन बलभारे हे सबै तेग धारे।
तब सब जग धाई फेरते हे दुहाई॥
जग सिर पग धारे धावते रोस भारे।
विपुल अवनि जीती पालते राजनीती॥
जग इन बल काँपै देखिकै चंड दापै।
सोइ यह प्रिय मेरे ह्वै रहे आज चेरे॥
ये कृष्ण-बरन जब मधुर तान।
करते अमृतोपम वेद गान॥
तब मोहत सब नर-नारि-वृंद।
सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद॥

१—वही, पृ० ६२८-६२९, और 'विजयिनी-विजय-पताका या वैज-यंती' (१८८२), भा०, ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४८-५२, पृ० ८०४-८०५ (दोनों में पाठ-भेद और पंक्तियों की संख्या और क्रम में अंतर है)

उसी सभ्यता और संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन, ज्ञान-गरिमा से मंडित और वीर कृत्यों के कारण सर्वपूज्य और जगत्वंद्य भारतवर्ष की कैसी क्षोभपूर्ण अवस्था हो गई थी, उसकी कितनी दुर्दशा हो गई थी, वह भारतेंदु की निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है—

'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥ध्रुव॥
...अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥
...तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती ॥
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥
....कहा करी तकसीर तिहारी। रे विधि रुष्ट याहि की बारी ॥
सबै सुखी जग के नर नारी। रे विधना भारतहि दुखारी ॥
हाय रोम तू अति बड़भागी। बर्बर तोहि नास्यो जय लागी ॥
तोड़े कीरति-थंभ अनेकन। ढाहे गढ़ बहु करि प्रण टेकन ॥
मंदिर महलनि तोरि गिराए। सबै चिह्न तब धूरि मिलाए ॥
कछु न बची तुव भूमि निसानी। सो बरु मेरे मन अति मानी ॥
भारत-भाग न जात निहारे। थाप्यो पग ता सीस उधारे ॥
तोर्यो दुर्गन महल ढहायो। तिनहीं में निज गेह बनायो ॥
ते कलंक सब भारत केरे। ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे ॥
काशी प्राग अयोध्या नगरी। दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी ॥

याही भारत में गए, मनु भृगु आदिक होय।
तब तिनसो जग में रह्यो, घृना करत नहिं कोय॥

जासु काव्य सों जगत मधि, अब लौं ऊँचो सीस।
जासु राज बल धर्म की, तृषा करहिं अवनीस॥
सोई व्यास अरु राम के, बंस सबै संतान।
ये मेरे भारत भरे, सोइ गुन रूप समान॥
सोई बंश रुधिर वही, सोई मन बिश्वास।
वही वासना चित वही, आसय वही बिलास॥
कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन, कोटि कोटि अतिसूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर॥'[1]

'पोरस सर जल रन महँ बरसत, लखि कै मोरा जियरा हरसत।
बिजुरी सी चमकत तरवारैं, बादर सी तोपैं ललकारैं,
बीच अचल गिरिवर सो छत्री, गज चढ़ि देवराज-सम सरसत॥
झींगुर से झनकत हैं बखतर, जवन करत दादुर से टर टर,
छर्रा उड़त बहुत जुगनू से, एक एक कौं तम सम गरसत।
बढ्यौ बीर रस सिन्धु सुहायो, डिग्यौ न राजा सबन डिगायो,
ऐसो वीर बिलोकि सिकन्दर, जाइ मिल्यौ कर सौं कर परसत॥'[2]

१—वही, पृष्ठ० ६३२-६३४ और 'विजयिनी-विजय-पातका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ३४-४०, पृ० ८०२-८०३ (अंतिम उद्धरण के दोनों पाठों और पंक्तियों की संख्या और क्रम में भेद है)

२—'स्फुट कविताएँ', भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४८, पृ० ८४२

'सोइ भारत की आज यह, भई दुरदसा हाय।
कहा करैं कित जायँ नहिं, सूझत कछू उपाय ॥

हाय वहै भारत भुव भारी। सब ही बिधि तें भई दुखारी ॥
रोम, ग्रीस पुनि निज बल पायो। सब बिधि भारत दुखित बनायो ॥
अति निरबली स्याम जापाना। हाय न भारत तिनहुँ समाना ॥'[1]

'जुरि आए फाँके-मस्त होली होय रही।
घर में भूँजी भाँग नहीं है तौ भी न हिम्मत पस्त ॥ होली होय रही ॥
महँगी परी न पानी बरसा बजरौ नाहीं सस्त।
धन सब गवा अकिल नहिं आई तो भी मङ्गल-कस्त ॥ होली०
परबस कायर कूर आलसी अंधे पेट-परस्त।
सूझत कुछ न बसन्त माँहि ये भे खराब औ खस्त ॥'[2]

'भारत मैं मची है होरी ॥
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी-अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुँ ओरी ॥
दुन्द सखि बहुत बढ़ो री ॥

धूर उड़त सोइ अबिर उड़ावत सब को नयन भरो री।

१—'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४१-४२, पृ० ८०३

२—'मधु-मुकुल' (१८८०), भा० ग्र०, द्वि०, ना० प्र० स०, ६, पृ० ३६६-३६७

चंडालहु जेहि निरखि घिनाई । रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई ॥
हाय पंचनद हा पानीपत । अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत ॥
हाय चितौर निलज तू भारी । अजहुँ खरो भारतहि मंझारी ॥
जा दिन तुव अधिकार नसायो । सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो ॥
रह्यो कलंक न भारत नामा । क्यों रे तू बारानसि धामा ॥
सब तजि कै भजि कै दुखभारो । अजहुँ बसत करि भुव मुखकारो ॥
अरे अग्रवन तीरथ राजा । तुमहुँ बचे अबलौं तजि लाजा ॥
पापिनि सरजू नाम धराई । अजहुँ बहत अवधतट जाई ॥
तुम में जल नहिं जमुना गंगा । बढ़हु बेग करि तरल तरंगा ॥
धोवहु यह कलंक की रासी । बोरहु किन झट मथुरा कासी ॥
कुस कन्नौज अंग अरु बंगहि । बोरहु किन निज कठिन तरंगहि ॥
बोरहु भारत भूमि सबेरे । मिटै करक जिय कौतब मेरे ॥
अहो भयानक भ्राता सागर । तुम तरंगनिधि अति बल-आगर ॥
बोरे बहु गिरि बन अस्थाना । पै बिसरे भारत हित जाना ॥
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई । देहु भरत भुव तुरत डुबाई ॥
घेरि छिपावहु बिंध्य हिमालय । करहु सफल जल भीतर तुम लय ॥
धोवहु भारत अपजस पंका । मेटहु भारतभूमि कलंका ॥'[१]

१—'भारत दुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे० प्र०, पृ० ६२६-६३२ और 'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्र०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४३-४७, पृ० ८०३-८०४ (दोनों में पाठ-भेद और पंक्तियों की संख्या और क्रम में अंतर है)

'कहँ गए विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर॥
कहँ छत्री सब मरे जरे सब गए कितै गिर।
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत है चिर॥
कहँ दुर्ग सैन-धन बल गयो धूरहि धूर दिखात जग।

जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मन्दिर।
तहँ महजिद बनि गई होत अब अल्ला अकबर॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे बर।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥
जहँ धन-बिद्या बरसत रही सदा अबै बाही ठहर।
बरसत सब ही बिधि बे-बसी॥...

गयो राज धन तेज रोष बल ज्ञान नसाई।
बुद्धि बीरता श्री उछाह सूरता बिलाई॥
आलस कायरपनो निरुद्यमता अब छाई।
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लराई॥
सब बिधि नासी भारत-प्रजा कहुँ न रह्यो अवलंब अब।'...[1]

'सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीअत गंगा-जल॥

१—'प्रबोधिनी' (१८७४), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १६-२१, पृ० ६८३-६८४

दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब खिलार भिंजयो री ॥
भींजि रहे भूमि लटो री ॥
भइ पतझार तत्व कहुँ नाहीं सोइ बसन्त प्रगटो री।
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री ॥
सिसिर को अंत भयो री ॥
तेज बुद्धि-बल धन अरु साहस ऊधम सूरपनो री।
होरी में सब स्वाहा कीनो पूजन होत भलो री ॥
करत फेरी सब कोरी ॥
फेर धुरहरी भई दूसरे दिन जब अगिभ बुझोरी।
सब कछु जरि गयो होरी में तब धूरहि धूर बचो री ॥
नाम जमघंट परो री ॥
फूँक्यो सब कछु भारत नै कछु हाथ न हाथ रह्यो री।
तब रोअन मिस चैती गाई भली भई यह होरी ॥
भलो तेहवार भयोरी ॥'[१]

'देखो भारत ऊपर कैसी छाई कजरी।
मिटि धूर में सपेदी सब आई कजरी ॥
दुज बेद की रिचन छोड़ि गाई कजरी।
नृप-गन लाज छोड़ि मुँह लाई कजरी ॥'[२]

१—वही, ४७, पृ० ४०५-४०७

२—'वर्षा-विनोद' (१८८०), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४५, पृ० ५०१

उदासीनता और फलतः अधःपतन, नाना प्रकार के मतों का बाहुल्य, अनैक्य, असंगठन, अंधपरंपरा आदि का उल्लेख कर भारत में चारों ओर छाए हुए अँधियारे का अत्यंत क्षोभपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है। भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण करते ही उन्हें 'सब विधि ते भई दुखारी' 'भारत भुव' की 'मसान' की भाँति दीनहीन अवस्था की याद भी आ जाती थी और तब अपने हृदयोद्‌गारों को रोक न सकने के कारण वे विचलित और निराश हो उठते थे। 'नीलदेवी' (१८८१) के सातवें अंक में एक देवता के मुख से 'सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' आदि पंक्तियाँ कहलाकर भारत-दुर्भाग्य का दुःखपूर्ण चित्र अंकित किया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३), 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६), 'अंधेरनगरी' (१८८१) और 'प्रेमजागिनी' (१८७५) में इस घोर काल के समाज में प्रचलित पाखंड, दम्भ, धर्माधर्म के विचार का अभाव, देशी राजाओं का व्यभिचार, पंडित-मूर्ख, अपना-बिगाना किसी में भेद-भाव न रखने की प्रवृत्ति आदि का दिग्दर्शन कराया है। उनमें भारतेन्दु का व्यंग्य कहीं-कहीं बड़ा करारा उतरा है। अँगरेजी-शिक्षित समाज और उसकी अभारतीयता और अँगरेज तथा भारतीय हाकिमों का समाज के प्रति कटु व्यवहार आदि विषयों को भी उन्होंने अपने व्यंग्य-बाणों का लक्ष्य बनाया। उनका 'प्रेमजोगिनी' 'इस घोर कालिकाल के बड़ा ही अनुरूप है'। तात्पर्य यह है कि उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज की सर्वतोमुखी

धन बिदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकित हत रचि न सकत कल॥
जीवत बिदेस की वस्तु लै ता बिनु कछु नहिं करि सकत।'[१]

'सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यौ न एकहु बीर सहस्रन कोस मँझारी॥
होत सिंह को नाद जौन भारत-बन माहीं।
तहँ अब समक सियार स्वान खर आदि लखाहीं॥
जहँ झूँसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर।
तहँ अब रोअत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥
धन विद्या बल मान वीरता कीरति छाई।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई॥'[२] आदि

इसी प्रकार भारतेंदु ने 'भारत-भिक्षा' (१८७५), 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), 'भारत-वीरत्व' (१८७८) 'भारत दुर्दशा' (१८८०) आदि ग्रंथों में रोग, महर्घ, कर, मद्य, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, पारस्परिक फूट और कलह, यवनों (मुसलमानों) के कारण दुःख, पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, छूआछूत, भूत-प्रेत और देवी-देवता की पूजा, दुर्भिक्ष, निज भाषा के प्रति

१—वही, २२, पृ० ६८४

२—'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५५-५८, पृ० ८०५

३. पतन के कारण

भारत की इस अधोगति का आखिर कारण क्या था? भारतवासी मनुष्य होकर गुलाम कैसे हुए? स्वयं भारतेन्दु के शब्दों में—

काहे तू चौका लगाय जयचँदवा,

'अपने स्वारथ भूलि लुभाए काहे चोटी-कटवा बुलाए जयचँदवा।

अपने हाथ से अपने कुल के काहे तैं जड़वा कटाए जयचँदवा॥

फूट के फल सब भारत बोए बैरी के राह खुलाए जयचँदवा।

और नासि तैं आपो बिलाने निज मुँह कजरी पुताय जयचँदवा॥

'टूटै सोमनाथ कै मंदिर केहू लागै न गोहार।

दौरो दौरो हिंदू हो सब गौरा करैं पुकार॥

की केहू हिंदू कै जनमल नाहीं की बरि भैलैं छार॥

की सब आज धरम तजि दिहलैं भैलैं तुरुक सब इक बार॥

केहू लगल गोहार न गौरा रोवैं जार-बिजार॥

अब जग हिंदू केहू नाहीं झूठै नामैं के बेवहार॥'[१]

मुसलमानी आक्रमण के समय हिंदुओं की असहायावस्था का भारतेन्दु ने कितना क्षोभ, संताप और नैराश्यपूर्ण वर्णन किया है। अन्य स्थलों पर वे कहते हैं—

१—'वर्षा-विनोद' (१८८०), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४६, ५०, पृ० ५०२

अधोगति का हृदय-विदारक चित्र अंकित किया है। उनके ये विचार देश-भक्ति और हितैषिता के भाव से प्रेरित होकर देश के भविष्य को लक्ष्य कर अभिव्यक्त होते थे। भारत की भूत, तत्कालीन और उसके बाद की अवस्था ही उनके विचारों की मुख्य प्रेरक थी।

लखहु एक कैसे सबै मुसलमान क्रिस्तान।
हाय फूटहु इक हमहिं में कारन परत न जान॥
बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास।
तबहुँ न छाँड़त याहि सब बँधे मोह के फाँस॥'[१]

'जग में घर की फूट बुरी।
घर के फूटहि सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी॥
फूटहि सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत में अबलौं नहिं पुजयो॥
फूटहि सों जयचंद बुलायो जवनन भारत धाम।
जाको फल अबलौं भोगत सब आरज होइ गुलाम॥
फूटहि सों नवनंद बिनासे गयो मगध को राज।
चंद्रगुप्त को नासन चाह्यौ आपु नसे सहसाज॥
जो जग में धन मान और बल आपुनो राखन होय।
तो अपुने घर में भूलेहू फूट करौ मति कोय॥'[२]

'लरि बैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवनसैन पुनिभारी॥

१—'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४४,८७-८८, पृ० ७३४, ७३८

२—'मुद्राराक्षस' (१८७८), उपसंहार-(क), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ३३३

'पृथीराज जयचंद कलह करि जवन बुलायो।
तिमिरलंग चंगेज आदि बहु नरन कटायो॥
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय-वासना दुसह मुहम्मदसह फैलायो॥'[1]

कुतुबुद्दीन के समय हिंदुओं की दशा का परिचय देते हुए कवि कहता है—

'छाई अँधियारी भारी सूझत नहिं राह कहूँ,
गरजि गरजि बादर से जवन सब डरावैं।
चपला सी हिन्दुन की बुद्धि वीरतादि भई,
छिपे वीर-तारागन कहूँ न दिखावैं॥
सुजस-चंद मंद भयो कायरता-घास बढ़ी,
नदी उमड़ि चली मूरखता पंक चहल पहल पग फँसावैं॥
'द' नन्दनन्द गिरिवर धरो आइ फेर
हिन्दुन के नैन नीर निस दिन बरसावैं'॥[2]

'भारत में सब भिन्न अति ताही सो उत्पात।
विविध देस मतहू विविध भाषा विविध लखात॥...

१—'प्रबोधिनी' (१८७४), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, २३, पृ० ६८४-६८५

२—'स्फुट कविताएँ', भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४७, पृ० ८४१-८४२

हलाकू, चंगेजी, तैमूर। हमारे अदना अदना सूर॥
दुरानी अहमद नादिरसाह। फौज के मेरे तुच्छ सिपाह॥
हममें तीनों कल बल छल। इसी से कुछ नहिं सकती चल॥
पिलावैंगे हम खूब शराब। करैंगे सबको आज खराब॥'[१]

'नीलदेवी' (१८८१) के सातवें अंक में देवता कहता है—

'इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै।
मूरखता को तम चारहु ओर पसरिहै॥...
तुरकन हित करिहैं हिंदू संग लराई।
यवनन के चरनहिं रहिहैं सीस चढ़ाई॥...
सुख सों सहिहैं सिर यवनपादुका त्रासा।
अब तजहु बीर बर भारत की सब आसा॥'[२]

इसी के आठवें अंक में पागल का प्रलाप एक अनर्गल प्रलाप मात्र नहीं है। उसमें सार्थकता भरी हुई है। पागल कहता है—

'मार मार मार—काट काट काट—तुरक तुरक तुरक...दुष्ट चांडाल गोभक्षी जवन—अरे हाँ रे जवन लाल डाढ़ी का जवन-बिना चोटी का जवन—हमारा सत्यानाश कर डाला। हमारा हमारा हमारा। इसी ने इसी ने—लेना, जाने न पावे। दुष्ट म्लेच्छ—हुँ!...छत्र चँवर मुरछल सिंहासन सब—पर जवन का दिया-मार मार मार-शस्त्र न हो तो मंत्र से मार।...चोटी कटा

१—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६०३-६०४
२—भा० ना०, इं० प्रे०, ६६१-६६२

तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु बारी।
छाई अब आलस कुमति कलह अँधियारी॥
भए अंध पंगु सब दीन हीन बिलखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥'[1]

भारतदुर्दशा में भारत कहता है—

'हा! यह वही भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था "शूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव" और आज हम उसी भूमि को देखते हैं कि श्मशान हो रही है। अरे यहाँ की योग्यता, विद्या, सभ्यता, उद्योग, उदारता, धन, बल, मान, दृढ़चित्तता, सत्य सब कहाँ गए? अरे पामर जयचंद्र! तेरे उत्पन्न हुए बिना मेरा क्या डूबा जाता था? हाय! अब मुझे कोई शरण देने वाला नहीं।'[2]...

आगे चलकर सत्यानाश फौजदार कहता है—

'हमारा नाम है सत्यानास। आए हैं राजा के हम पास॥
धरके हम लाखों ही भेस। किया चौपट यह सारा देस॥
बहुत हमने फैलाए धर्म। बढ़ाया छुआछूत का कर्म॥
होके जयचंद हमने इक बार। खोल ही दिया हिंद का द्वार॥

१—'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ५६८
२—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ५६६

ह्वै अनाथ आरत कुल-विधवा बिलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहि तुम नहीं लजत खरारी ॥'[१]

'प्रेमजोगिनी' (१८७५) में पारिपार्श्वक द्वारा उदासी का कारण पूछा जाने पर सूत्रधार कहता हैं—

'...क्या सज्जन लोग विद्यादि सुगुण से अलंकृत होकर भी उसकी इच्छा बिना ही दुखी होते हैं और दुष्ट मूर्खों के अपमान सहते हैं ? केवल प्राणमात्र नहीं त्याग करते; पर उनकी सब गति हो जाती है। क्या इस कमल वनरूप भारत भूमि को दुष्ट गजों ने उसकी इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया ? क्या जब नादिर चंगेज खाँ ऐसे निर्दयों ने लाखों निर्दोषी जीव मार डाले तब वह सोता था ? क्या अब भरतखंड के लोग ऐसे कापुरुष और दीन उसकी इच्छा के बिना ही हो गए ?'...[२]

'बादशाह दर्पण' (१९१७ में खंगविलास प्रेस से प्रकाशित, द्वितीय संस्करण) में भारतीय इतिहास संबंधी अपने विचार प्रकट करते हुए वे उक्त ग्रंथ की भूमिका में जो कुछ लिखते

१—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६७०

२—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ७१६। साथ ही देखिए 'दग़ाबाज़ी का उद्योग' और 'हिन्दू और मुसलमान की लड़ाई' (वीरेश्वर चक्रवर्ती द्वारा संग्रहीत 'साहित्य संग्रह', १८८६, बिहार बंधु यंत्रालय, पृ० क्रमशः १३१-१३३ और १४२-१४३)

निकाल।...जवन जवन मारय मारय...त्रासय त्रासय...स्वाहा फूः सब जवन स्वाहा फूः अब भी नहीं गया ? मार मार मार। हमारा देश—हम राजा हम रानी। हम मंत्री। हम प्रजा। और कौन ? मार मार मार...सबसे मार। हम राजा हमारा देस हमारा भेस हमारा पेड़-पत्ता कपड़ा-लत्ता छाता जूता सब हमारा। ले चला ले चला। मार मार मार...एक एक एक—मिल मिल मिल—छिप छिप छिप—खुल खुल खुल—मार मार मार—...मार मार मार—मुसल मुसल मुसल—मान मान मान—सलाम सलाम कि मार मार मार...मियाँ छार खार...'[1]

मियाँ (मियाँ के भेष में विष्णुशर्मा) कहता है—

'हाय ! अब भारतवर्ष की कौन गति होगी ? अब त्रैलोक्य-ललाम सुता भारत कमलिनी को यह दुष्ट यवन यथासुख दलन करेंगे। अब स्वाधीनता का सूर्य्य हम लोगों में फिर न प्रकाश करेगा। हाय ! परमेश्वर तू कहाँ सो रहा है। हाय ! धार्मिक वीर पुरुष की यह गति !'[2]

यह ईश्वर से प्रार्थना करता हुआ कहता है—

> 'दुष्ट यवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
> एक-एक दिन सहस-सहस नर-सीस काटि भुव पाटैं॥

१—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६६४-६६६

२—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६६८

जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ाओ॥'[1]

अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय॥
रचि कै मत वेदांत को, सबको ब्रह्म बनाय।
हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय॥

'...वेदांत ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिंदू ब्रह्म हो गए। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेहशून्य हो गए। जब स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ? बस, जय शंकर की।'[2]

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु अथवा अन्य किसी कवि ने मुसलमानों के संबंध में जो कुछ कहा है वह राजनीतिक अस्तव्यस्तता और तज्जनित देश की पीड़ित अवस्था और धार्मिक अत्याचार की दृष्टि से कहा है। सतीत्व-रक्षा, गो-रक्षा, मूर्ति-रक्षा आदि की पुकार मुसलमानी राज्य से चली आ रही पुकार के रूप है। यह पुकार स्वयं इस्लाम धर्म या उसके पैगंबरों के विरुद्ध नहीं थी। 'पंच पवित्रात्मा' लिखकर भारतेंदु ने स्वयं इस बात का प्रमाण दिया

१—'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६०४
२—वही, पृ० ६०५-६०६

हैं उससे उनके मुसलमानों के प्रति रुख और ऐतिहासिक अध्ययन पर प्रकाश पड़ता है। वे लिखते हैं—

'जबसे यहाँ का स्वाधीनता सूर्य अस्त हुआ उसके पूर्व समय का उत्तम शृङ्खलाबद्ध कोई इतिहास नहीं है। मुसलमान लेखकों ने जो इतिहास लिखे भी हैं उनमें आर्यकीर्ति को लोप कर दिया है। आशा है कि कोई माई का लाल ऐसा भी होगा जो बहुत सा परिश्रम स्वीकार करके एक बेर अपने 'बाप दादों' का पूरा इतिहास लिखकर उनकी कीर्ति चिरस्थायी करेगा। इस ग्रंथ में तो केवल उन्हीं लोगों का चरित्र है जिन्होंने लोगों को गुलाम बनाना आरम्भ किया। इनमें उन मस्त हाथियों के छोटे छोटे चित्र हैं जिन्होंने भारत के लहलहाते हुए कमलवन को उजाड़ कर पैर से कुचल कर छिन्न भिन्न कर दिया। मुहम्मद, अलाउद्दीन, अकबर और औरंगजेब आदि इनमें मुख्य हैं।'

विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव के अतिरिक्त भारत के अधःपतन के कारण स्वयं देश में विद्यमान थे। पारस्परिक कलह और धार्मिक संप्रदायों के विद्वेष का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। साथ ही उन्होंने ब्राह्मणों को भी दोषी ठहराया है—

'रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥

मसजिद लखि बिसुनाथ ढिग परे हिए जो घाव।
ता कहँ मरहम सरिस यह तुव दरसन नर-राव॥'[1]

१८७७ में प्रिंस ऑव वेल्स का स्वागत करते हुए वे कहते हैं—

'...बहुत दिनन की सूखी, डाढ़ी, दीना भारत भूमि।
लहिहै अमृत-वृष्टि सो आनँद तुव पद-पंकज चूमि॥
जेहि दलमल्यौ प्रबल दल लै कै बहु विधि जवन-नरेस।
नास्यो धरम करम सबहिन के मारि उजार्‌यो देस॥
पृथीराज के मरें लख्यौ नहिं सो सुख कबहूँ नैन।
तरसत प्रजा सुनन को नित ही निज स्वामी के बैन॥
जदपि जवनगन राज कियो इतही बसिकै सहि साज।
पै तिनको निज करि नहिं जान्यौ कबहूँ हिन्दु समाज॥
अकबर करिकै बुद्धिमता कछु सो मेट्यो संदेह।
सोउ दारा सिकोह लौं निबही औरंग डारी खेह॥
औरहु औरंगजेब दियो दुख सब विधि धरम नसाय।
निजकुल की मरजाद-मान बल-बुधिहू साथ घटाय॥
ता दिन सौं दुरलभ राजासुख इनहिं इकंत निवास।
राजभक्ति उत्साहादिक को इन कहँ नहिं अभ्यास।'[2]

१—'श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन' (१८७५), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५-७, २७-२८, पृ० क्रमशः ६६७, ६६६

२—'मानसोपायन' (१८७७), भा० ग्र०, द्वि०, ना० प्र० स०, पृ० ७२३

है। भारतवर्ष जैसे देश से धार्मिक असहिष्णुता की आशा करना वैसे भी न्यायसंगत नहीं। जिस समय अँगरेज भारतवर्ष आए उस समय हिंदू जनता मुसलमानी धार्मिक विद्वेष से प्रेरित अत्याचार के कारण पीड़ित थी। इतिहास के अध्ययन ने उसे यही बताया था और अभी उन अत्याचारों की स्मृति भी सजीव थी। मुसलमानों की अभारतीयता भी हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द में बाधक बनी हुई थी। साथ ही निरंतर युद्ध-विग्रह और कलह से भी वह ऊब उठी थी। अँगरेजी राज्य में उसे धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई, विविध अत्याचारों से रक्षा हुई और दिन रात की कलह और अशांति से छुटकारा मिलकर प्रत्यक्षतः सुख और शांति का अनुभव हुआ। १८७५ में युवराज प्रिंस आव वेल्स (सम्राट् एडवर्ड सप्तम) के शुभागमन पर लिखी गई कविता में भारतेन्दु कहते हैं—

...दुष्ट नृपति बल दल दली दीना भारत भूमि।
लहि है आजु अनंद अति तुव पद-पंकज चूमि॥
विकसित कीरति-कैरवी रिपु विरही अति छीन।
उडुगन-सम-नृप और सब लखियत तेज-विहीन॥
बरसत सुधा-सम बचन-मधु पोखत औषधिराज।
नासत चोर कुमित्र खल नंदत प्रजा-समाज॥...

जैसे आतप तपित को छाया सुखद सुहात।
बंधन-गन के अंत तुव आगम तिमि दरसात॥

में हर्ष और उत्साह के कारणों का अनुमान लगाते समय भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण कर वे एक वीर वृद्ध के मुख से कहलाते हैं—

'···तितही अब ऐसो कोउ नाहीं। लरै छिनहु जो संगर माहीं॥
प्रगट वीरता देइ दिखाई। छन महँ मिसरहिं लेइ छुड़ाई।
निज भुज-बल विक्रम जग माड़ै। भारत-जस-धुज अविचल गाड़ै॥
यवन-हृदय-पत्री पर बरबस। लिखै लोह-लेखनि भारत-जस।
पुनि भारत-जस करि विस्तारा। मन मुख फेर करै उँजियारा॥'[1]

'का अरबी को वेग कहा वाको बल भारी।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरि है समर मँझारी॥
उठहु वीर तरवार खींचि माड़हु घन संगर।
लोह-लेखनी लिखहु आर्य बल जवन-हृदय पर॥
नासहु अरबी शत्रु-गनन कहँ करि छन महँ छय।
कहहु सबहि विजयिनी-राज महँ भारत की जय॥'[2]

उपर्युक्त पंक्तियों से अँगरेजी राज्यांतर्गत हिंदुओं के तत्कालीन मुसलमानों के प्रति रुख पर प्रकाश पड़ता है। 'आर्य मोंछ के बार' ऊँचे होते देखकर उनका सिर गर्व से ऊँचा हो जाता था।

१—'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५२-५४, पृ० ८०५

२—वही, ६२, ६७, ७१, पृ० ८०६

तो इनके हित क्यौं न उठहिं सब बीर बहादुर ।
पकरि पकरि तरवार लरहिं बनि युद्ध चकधुर ॥'[1]

वास्तव में मुसलमानी राज्य के अन्तिम दिनों में भारतीय जीवन की व्यवस्था अनुशासनहीन और अराजकतापूर्ण हो गई थी। इसलिए जब अँगरेज़ों ने पाश्चात्य ढंग पर विविध सुधार किए तो भारतवासियों को वे बहुत पसंद आए। प्रगति की इच्छा से उन्होंने उन सुधारों की सराहना की और उन्हें ग्रहण किया।

प्राचीन भारत में 'राजा कृष्ण समान'[2] वाली भावना का विशेष स्थान था। शासन-सूत्र व्यक्तिगत रूप से राजा के हाथ में रहता था। न्याय अथवा किसी अन्य प्रार्थना के लिए जनता की राजा तक पहुँच थी। पाश्चात्य ढंग के प्रतिनिधि-शासन का उस समय प्रचार नहीं था। अतः प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा के व्यक्तित्व के साथ प्रजा का विशेष सम्बन्ध था। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में अँगरेज़ी राज्य की नियामतों के साथ-साथ 'नराणां च नराधिपः'[2] वाली भावना भी काम कर रही थी। इसलिए भारतेन्दु ने इँगलैंड के राजकुमार आदि के

१—'भारत-वीरत्व' (१८७८), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १८-९०, पृ० ७६३-७६४

२—'मनोमुकुल-माला' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५, पृ० ७४५

४. अँगरेज़ी राज्य

अँगरेज़ी राज्य में भारतवासियों को मुसलमानी अत्याचार और दिन-रात की कलह और अशांति से पहले-पहल रक्षा मिली। इसलिए उन्होंने मुसलमानी राज्य की अपेक्षा अँगरेज़ी शासन कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा। प्रत्यक्षतः सुख-शान्ति के साथ पाश्चात्य सभ्यता द्वारा प्रदत्त विविध वैज्ञानिक साधनों के सुखोपभोग, वैध शासन, सुन्दर न्याय-पद्धति, नव्य शिक्षा आदि के कारण उन्होंने अँगरेजी राज्य के गुणगान किए, 'रूल ब्रिटानिया' के नारे लगाए। भारतेन्दु ने अँगरेज़ी राज्य के सम्बन्ध में इस प्रकार अपने भाव प्रकट किए हैं—

> 'बृटिश सुशासित भूमि मैं आनन्द उमगे जात।'[1]

अँगरेज़ सम्राट् के चरण स्पर्श कर भारत भूमि सनाथा हुई, उसका दीनता-तम दूर हुआ। इसलिए प्रिंस ऑव वेल्स (सम्राट् एडवर्ड सप्तम) को सम्बोधन कर वे कहते हैं—

> 'जदपि न भोज न व्यास नहिं बालमीकि नहिं राम।
> शाक्यसिंह 'हरिचंद' बल करन जुधिष्ठिर श्याम॥

१—'भारत-भिक्षा' (१८७५), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, २, पृ० ७०१, 'भारत-वीरत्व' (१८७८), वही, २, पृ० ७६१ और 'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयन्ती' (१८८२), वही, ६, पृ० ८००

भारत की पददलित अवस्था का स्मरण होते ही उनका ध्यान विदेशी धर्मावलंबियों, विशेषतः मुसलमानों, की ओर अवश्य आकृष्ट हो जाता था।[1] अँगरेजों के प्रति आकर्षण अधिकांश में ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से था। उनके नेतृत्व में अफ़ग़ानिस्तान या मिश्र में भारतीय सेना का वीरत्व-प्रदर्शन इसलिए और भी महत्त्व रखता था क्योंकि उसने भारतीय (हिंदू) होने के नाते मुस्लिम देशों पर विजय प्राप्त की। अंगरेजों की राजनीतिक माया में यह विचार हिंदुओं के लिए बहुत कुछ स्वाभाविक था। किंतु हिंदी की आधुनिक राष्ट्रीयता में हिन्दू मुस्लिम-सम्बन्धी विचारों में बिल्कुल परिवर्तन हो गया है, यह बात ध्यान देने योग्य है।

१—'भारत दुर्दशा' (१८८०) में भारतदुर्दैव के परिच्छद का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"क्रूर, आधा किरिस्तानी आधा मुसलमानी भेष, हाथ में नंगी तलवार लिए।"—पृ० ६०२

मति रोश्रो रोश्रो न तुम जननी व्याकुल होय।
उठहु उठहु धीरज धरहु लेहु कुँअर मुख जोय॥
तुम दुखिया बहु दिनन की सदा अन्य आधीन।
सदा और के आसरे रहो दीन मन खीन॥
तुम अबला हत-भागिनी सदा सनाथ दयाल।
जोग भजन भूली रहत सूधे जिय की बाल॥
सो दुख तुमरो देखि महरानी करुना धारि।
निज प्रानोपम पुत्र तुव ढिग पठयो मनुहारि॥
रिपु-पद के बहु चिन्ह सब कुँअरहिं देहु गिनाय।
काढ़ि करेजो आपनो देहु न सुतहि दिखाय॥
सदा अनादर जो सह्यो रह्यो कठिन रिपु-लात।
सो छत देहु दिखाय अब करहु कुँअर, सों बात॥
उठहु फेर भारत जननि है प्रसन्न इक बार।
लेहु गोद करि नृप कुँवर भयो प्रात उँजियार॥"[1]

'आओ आओ हे जुवराज।
धन-धन भाग हमारे जागे पूरे सब मन-काज॥
कहँ हम कहँ तुम कहँ यह धन दिन कहँ यह सुभ संयोग।
कहँ हतभाग भूमि भारत की कहँ तुम-से नृप लोग॥

१—'भारत-भिक्षा' (१८७५), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ३६-४५, पृ० ७०६-७०७

जदपि न विक्रम अकबरहु कालिदासहू नाहिं ।
जदपि न सो विद्यादि गुन भारतवासी माहिं ॥
प्रतिष्ठान साकेत पुनि दिल्ली मगध कनौज ।
जदपि अबै उजरी परीं नगर सबै बिनु मौज ॥

जदपि खँडहर सी परी भारत भुव अति दीन ।
खोइ रत्न संतान सब कृस तन दीन मलीन ॥
तदपि तुमहिं लखि के तुरत आनंदित सब गात ।
प्रान लहे तव सी अहो भारत भूमि दिखात ॥

दाव जरे कहँ वारि जिमि बिरही कहं जिमि मीत ।
रोगिहि अमृत-पान जिमि तिमि एहि तोहि लहि प्रीत ॥
घर घर में मनु सुत भयो घर घर में मनु ब्याह ।
घर घर बाढ़ी संपदा तुव आगम नर-नाह ॥'...[1]

'उठहु उठहु भारत-जननि लेहु कुँअर भरि गोद ।
आज जगे तुव भाग फिर मानहुँ मन अति मोद ॥
करि आदर मृदु बैन कहि बहु बिधि देहु असीस ।
चिर दिन सों सिसु-मुख लख्यौ नहिं तुम सोइ अवनीस ॥
नैन खोंलि माता उठहु उदित अरुन तुव देस ।
मिटे अमंगल तिमिर सब राजकुमार-प्रवेस ॥

१—'श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन' (१८७५), भा० ग्रं०, द्वि०, प्र० न०, २०-२६, पृ० ६६६

जासु राज सुख बस्यौ सदा भारत भय त्यागी ।
जासु बुद्धि नित प्रजा-पुंज-रंजन महँ पागी ॥
जो न प्रजा-तिय दिसि सपनेहुँ चित्त चलावैं ।
जो न प्रजा के धर्म्महि हठ करि कबहुँ नसावैं ॥
बाँधि सेतु जिन सुरत किए दुस्तर नद नारे ।
रची सड़क बेधड़क पथिक हित सुख बिस्तारे ॥
ग्राम ग्राम प्रति प्रबल पाहरू दिए बिठाई ।
जिनके भय सों चोर वृन्द सब रहे दुहाई ॥
नृप-कुल दत्तक-प्रथा कृपा करि निज थिर राखी ।
भूमि कोप को लोभ तज्यौ जिन जग करि साखी ॥
करि वारड-कानून अनेकन कुलहि बचायो ।
विद्या-दान महान नगर प्रति नगर चलायो ॥
सबही बिधि हित कियो बिबिध बिधि नीति सिखाई ।
अभय बाँह की छाँह सबहि सुख दियो सोआई ॥
जिनके राज अनेक भाँति सुख किए सदाहीं ।
समरभूमि तिन सों छिपनो कछु उत्तम नाहीं ॥
जिन जवनन तुम धरम नारि धन तीनहुँ लीनो ।
तिनहूँ के हित आरजगन निज असु तजि दीनो ॥
मानसिंह बङ्गाल लरे परतापसिंह सँग ।
रामसिंह आसाम बिजय किए जिय उछाह रँग ॥
छत्रसाल हाड़ा जूझ्यौ दारा हितकारी ।
नृप भगवान् सुदास करी सैना रखवारी ॥

भारत शुभागमन के अवसरों पर इसी प्राचीन भारतीय भावना से प्रेरित होकर अपने विचार व्यक्त किए। १८६९ में ड्यूक ऑव एडिन्बरा के भारतागमन के उपलक्ष्य में लिखे गए स्वागत-पत्र की भूमिका में उनका कहना है—

'जाके दरसन-हित सदा नैना मरत पियास।
सो मुख-चंद विलोकिहैं पूरी सब मन आस॥
नैन बिछाए आपु हित आवहु या मग होय।
कमल-पाँवड़े ये किए अति कोमल पद जोय।'

'हे हे लेखनी, आज तुझे मानिनी बनना उचित नहीं है, क्योंकि इस भूमि के नायक ने चिर-समय पीछे अपने प्यारी की सुधि ली है।

× × ×

'...खिड़कियों में स्त्री लोग किसके हेतु पुतली सी एकाग्र-चित्त हो रही हैं और मंगल का सब साज किसके हेतु सजा है। सुना है कि हम लोगों के महाराज-कुमार आज इधर आने वाले हैं, फिर क्यों न इस भारतवर्ष के उद्यान में ऐसा आनन्द-सागर उमगै। भारतवर्ष के निवासी लोगों को अब इससे विशेष और कौन आनंद का दिन होगा और इससे बढ़ के अपने चित्त का उत्साह और आधीनता प्रगट करने का और कौन-सा समय मिलेगा। कई सौ बरस से हम लोग चातक की भाँति आसा लगाए थे कि वह भी कोई दिन ईश्वर

तौ इनके हित क्यौं न उठहिं सब बीर बहादुर।
पकरि पकरि तरवार लरहिं बनि युद्ध चकधुर॥'[1]

वास्तव में मुसलमानी राज्य के अन्तिम दिनों में भारतीय जीवन की व्यवस्था अनुशासनहीन और अराजकतापूर्ण हो गई थी। इसलिए जब अँगरेज़ों ने पाश्चात्य ढंग पर विविध सुधार किए तो भारतवासियों को वे बहुत पसंद आए। प्रगति की इच्छा से उन्होंने उन सुधारों की सराहना की और उन्हें ग्रहण किया।

प्राचीन भारत में 'राजा कृष्ण समान'[2] वाली भावना का विशेष स्थान था। शासन-सूत्र व्यक्तिगत रूप से राजा के हाथ में रहता था। न्याय अथवा किसी अन्य प्रार्थना के लिए जनता की राजा तक पहुँच थी। पाश्चात्य ढंग के प्रतिनिधि-शासन का उस समय प्रचार नहीं था। अतः प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा के व्यक्तित्व के साथ प्रजा का विशेष सम्बन्ध था। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में अँगरेज़ी राज्य की नियामतों के साथ-साथ 'नराणां च नराधिपः'[3] वाली भावना भी काम कर रही थी। इसलिए भारतेन्दु ने इंगलैंड के राजकुमार आदि के

१—'भारत-वीरत्व' (१८७८), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १८[illegible], पृ० [illegible]

२—'[illegible]' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, [illegible], पृ० [illegible]

बन सकै इनका आदर करो। कितने यहाँ के निवासी ऐसे मूढ़ हैं कि इन बातों को अब तक जानते ही नहीं। जानें कहाँ से, हजारों बरस से राजसुख से वंचित हैं। आज तक ऐसा शुभ संयोग आया ही न था कि आप सा सुखद स्वामी इनके नेत्रगोचर हो। इसी से आपके आगमन से हम लोगों को क्या आनंद हुवा है, वह कौन जान सकता है। प्रिय! हम सब स्वभावसिद्ध राज भक्त हैं।...आपके आगमन के केवल स्मरण से हृदय गद्गद् और नेत्र अश्रुपूर्ण हमीं लोगों के हो जाते हैं और सहज में आप पर प्राण न्योछावर करने वाले हमीं लोग हैं, क्योंकि राजभक्ति भरतखण्ड की मिट्टी का सहज गुण और कर्त्तव्य धर्म है...'[१]

१८६१ में महारानी विक्टोरिया के पति प्रिंस एलबर्ट की मृत्यु के अवसर पर लिखी गई 'अंतर्लापिका' (१८६१) में सम्भवतः उन्होंने सर्वप्रथम अँगरेजी राज्य-सिंहासन के प्रति अपनी भक्ति-भावनाएँ प्रकट की हैं।[२] १८७० में ड्यूक ऑव एडिन्बरा के बनारस आने पर उन्होंने एक सभा की जिसमें उन्होंने (तथा आगत सज्जनों ने) फिर सार्वजनिक रूप से राजकुमार के प्रति

१—'मानसोपायन' (१८७७), भूमिका-भाग, भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ७२१—७२२

२—भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, पृ० ६२३—६२४

दिखावेगा, जिस दिन हम अपने पालने वाले को इन नेत्रों से देखेंगे और अपना उत्साह और प्रीति प्रगट करेंगे। धन्य उस जगदीश्वर को जिसने आज हमारे मनोर्थ पूर्ण करके हमको अपूर्व निधि का दर्शन कराया जिसका दर्शन स्वप्न में भी दुर्लभ था। धन्य आज का दिन और धन्य यह घड़ी जिसमें हमारे मनोर्थ के वृक्ष में फल लगा और अपने राज-कुँवर को हम लोगों ने अपने नेत्रों से देखा। इस समै हम लोग तन-मन धन जो कुछ न्योछावर करें थोड़ा है और जो आनन्द करें सो बहुत नहीं है। ईश्वर करै जब तक फूलों में सुगन्धि और चन्द्रमा में प्रकाश है और पद्मिनी-नायक सूर्य जब तक उदयाचल पर उगता है। और गंगा-जमुना जब तक अमृत धारा बहती हैं तब तक इनके रूप-बल तेज और राज्य की वृद्धि होय, जिसमें हम इनके छत्र-कल्प-वृक्ष की छाया में सब मनोर्थ से पूर्ण होकर सुखपूर्वक निवास करें।'[१]

१८७५ में युवराज का स्वागत करते हुए वे कहते हैं—

"...इधर नई रोशनी के शिक्षित युवक कहते हैं—"दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा।" सुनते सुनते जी थक गया, कोई मस्तिष्क की बात कहो। उधर प्राचीन लोग कहते हैं हमारे यहाँ तो 'सर्वदेवमयो नृपः' लिखा ही है जितना

१—'श्री राजकुमार-सुस्वागत-पत्र' (१८६६), भा० ग्र०, द्वि० खं०, ना० प्र० स०, पृ० ६६५—६७०

साधनों में सामञ्जस्य स्थापित करने लगते थे। और इसी सम्बन्ध एवं आर्यत्व और प्राचीन भारत के वीरत्व की भावना से प्रेरित होकर वे अँगरेज़ों के अधीन भारतीय सेना के किसी सुन्दर देश में विजय प्राप्त करने पर अपनी राज्य-भक्ति (या भारतीयता के नाते से कहिए देशभक्ति) से प्रेरित होकर विजय-गान गा उठते थे, और प्राचीन भारत की शक्तिवाहिनी चतुरंगिणी सेना के वीरों और उनके वीर कृत्यों को स्मरण कर पुलकित हो उठते थे—

'कित अरजुन, कित भीम कित करन नकुल सहदेव।···
कहहु लखहिं सब आइ निज संतति को उत्साह।
सजे साज रन को खरे मरन-हेत करि चाह॥
स्वामिभक्ति किरतज्ञता दरसावन-हित आज।
छाँड़ि प्रान देखहिं खरो आरज बंस समाज॥
तुमरी कीरति कुल-कथा साँची करवे हेतु।
लखहु लखहु नृप-गन सबै फहरावत जय-केतु॥'···[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि उस समय देश का नेतृत्व मध्यमवर्गीय शिक्षित समुदाय के हाथ में था। इस वर्ग ने आर्थिक, राजनीतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्रों में विशेष उन्नति कर ली थी। किन्तु साधारणतया निम्न मध्यमवर्ग और

१—'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १६—२५, पृ० ८०१

अपनी भक्ति-भावनाओं का परिचय दिया।[1] १८७१ में प्रिंस ऑव वेल्स की अवस्था विषम ज्वर के कारण कष्टसाध्य हो गई थी। उक्त अवसर पर भगवान् से प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं—

'...हम हैं भारत की प्रजा, सब विधि हीन मलीन।...
...जिनकी माता सब प्रजा-गन की जीवन-प्रान॥...'[2]

साथ ही—

'...होइ भारताधीश्वरी आरज-स्वामिनि आज।
तुम ह्वै आरज जाति कहँ मिलयो धन यह राज॥'[3]

कहकर उन्होंने हिंदुओं और अँगरेजों में 'एक-जातित्व' स्थापित कर इंगलैंड के राजकुमार, विक्टोरिया महारानी आदि को आर्येश्वर, आर्येश्वरी, माता, अंब, देवी आदि नामों से सम्बोधित किया, शुभ अवसरों पर हर्षोत्सव मनाए, उनका गुणगान एवं यशवर्णन किया, और उनकी 'रघुवर', 'रामीरामा' आदि पौराणिक चरित्रों से तुलना की। यही उनकी राजभक्ति की नींव है। इसी सम्बन्ध द्वारा वे भारत और ग्रेट ब्रिटेन के समस्त हित-

ब्रह्म अस्त्र ऐसी तोपैं तोपैं एकै बार फौज
विमल बन्दूक गोली दारू कारतूस है ॥
ऐसो कौन जग में बिलोकि सकै जौन इन्हें
देखि बल बैरी-दल रहत मसूस है ।
प्रबल प्रताप भारतेश्वरी तिहारे क्रोध
ज्वाल काल आगे रोम मोन रूस फूस है ॥'[1]

...'गलै दाल नहिं सत्रु की तुव सनमुख गुनधाम ॥'

१८५७ के विद्रोह की ओर संकेत कर वे कहते हैं—

...'कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जा जल-बल नासी ।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी ॥'[2]

इसलिए एक ओर तो वे अवसर मिलने पर राजनीतिक दृष्टि से जनता की भलाई की माँगें सरकार के सामने पेश करते थे ; दूसरी ओर वे जनता को सुधारने और उसको उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे । जुबिली, राजकुमारागमन, राजकुमार-जन्मोत्सव, युद्ध-विजय, दरबारों आदि के अवसरों पर वे राजभक्ति तो प्रकट करते ही थे, साथ ही भारत की दीन-हीन दशा का चित्र खींच अपनी आर्थिक और राजनीतिक अथवा शासन-सम्बन्धी माँगें पूरी करने की

१—'स्फुट कविताएँ,' भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ३, पृ० ८६४

२—'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयन्ती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ८६, पृ० ८०८

किसानों तथा अन्य निम्न श्रेणी के लोगों की दशा अच्छी न थी। समाज के मध्यमवर्गीय उन्नत समुदाय ने देश में चारों ओर अज्ञान, अविद्या, निर्धनता और नैतिक दुर्दशा का राज्य और जनता में कुप्रवृत्तियों और कुप्रथाओं का प्रचार देखा। उधर दूसरी ओर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राज्य में छोटे-छोटे अंगरेज़ कर्मचारियों का जातीय पक्षपात, काले-गोरे का भेद, भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार, सरकारी पदों पर भारतवासियों का नियुक्त न होना, गवर्नर-जनरल और गवर्नर की कौंसिलों में उनका सदस्य नियुक्त न होना, भारत की निर्धनता और आर्थिक दुरवस्था आदि विषय नेताओं का ध्यान आकृष्ट किए हुए थे। वे सम्राट् की छत्रछाया में ही औपनिवेशिक [illegible] शासन प्राप्त करना चाहते थे। देश को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये मैज़िनी का आदर्श उनके सामने था। किन्तु मैज़िनी के क्रान्तिकारी साधनों के वे हिमायती नहीं थे। क्योंकि एक तो उस समय देश किसी भी प्रकार के क्रांतिकारी साधन का प्रयोग करने या सरकार से खुल्लमखुल्ला मोर्चा लेने के अयोग्य था, दूसरे उनका राजनीतिक ध्येय उन्हें उग्र राजनीतिक आंदोलन को जन्म देने से रोकता था, और तीसरे अंगरेज़ों की सैनिक शक्ति का आतङ्क छाया हुआ था—

[illegible]

[illegible]

किंतु—

...'साथ ही राजभक्ति और आपका प्रताप कहता है कि खबरदार हद से आगे न बढ़ना, जो कुछ विनती करना बड़ी नम्रता और प्रमाण के साथ।'...[१]

अस्तु, इस मानसिक पीठिका के साथ वे देश की दुरवस्था का चित्र खींच राजनीतिक और शासन सम्बन्धी अनीतियों को दूर करने की माँगें सरकार के सामने रखते थे। यह सदैव याद रखना चाहिए कि ये माँगें प्रायः आर्थिक या आर्थिक आधार लिए हुए होती थीं। प्रारम्भिक कुछ राजनीतिक तथा अन्य सुधारों के कारण भारतवासियों को भारत में इँगलैंड के मिशन पर बहुत-कुछ भरोसा हो चला था। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित तथा यात्रा सम्बन्धी सुगमताओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुई ऐक्य-भावना से प्रेरित होकर उन्हें इँगलैंड से और भी आशाएँ बँध गई थीं। तत्कालीन भारतीय दुरवस्था, आशाओं निराशाओं, तथा अन्य माँगों का भारतेन्दु ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

१८७४ में क्वीन विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र ड्यूक ऑव एडिन्-बरा का विवाह रूस की राजकुमारी ग्रैंड डचेज़ मेरी के साथ हुआ था। इस उपलक्ष्य में लिखी गई 'मुँह दिखावनी' में भारतेंदु कहते हैं—

१—वही, पृ० ७२१

सरकार से अपील करते थे। राजकुमारागमन, जुबिली, दरबार आदि शुभ अवसरों और हर्षोत्सवों पर जनता का अपनी प्रार्थनाओं और माँगों की पूर्ति की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करना भारतीय पद्धति के अनुसार तो था ही, किन्तु साथ ही—

'…बिचारे छोटे पद के अंगरेजों को हमारे चित्त की क्या खबर है, वे अपनी ही तीन छटाँक पकाने जानते हैं। अतएव दोनों प्रजा एक रस नहीं हो जाती; आप दूर बसे, हमारा जी कोई देखने वाला नहीं, बस छुट्टी हुई।'…[1]

इसलिए—

'जब आपसे कुछ भी कहने की इच्छा करते हैं तो चित्त में कैसे विचित्र भाव उत्पन्न होते हैं। कभी भारतवर्ष के युगयुग के प्रारम्भ काल से आज तक जो बड़े बड़े दृश्य यहाँ हो गये हैं और जो महायुद्ध, महा शोभा और महा दुर्दशा भारतवर्ष की हुई है, उनके चित्र नेत्र के सामने खिंच जाते हैं। कभी हिन्दुओं की दशा पर करुणा उत्पन्न होती है, कभी जी यह कहता है कि यही अवसर है खूब जी खोल कर जो कुछ हृदय में बहुत काल से भाव और उद्गार संचित हैं, उनको प्रकाश करो।'…[2]

१—'[illegible]' (१८७७), भूमिका भाग, भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, पृ० ७०२-७०३

२—वही, पृ० ७०२

'स्वागत स्वागत धन्य तुम भावी राजधिराज ।
भई सनाथा भूमि यह परसि चरन तुव आज ॥···
साँचहु भारत में बढ़्यौ अचरज सहित अनंद ।
निरखत पच्छिम सों उदित आज अपूरब चंद ॥
दुष्ट नृपति-बल दल दली दीना भारत भूमि ।
लहिहै आजु अनंद अति तुव पद-पंकज चूमि ॥···
स्रवत सुधा-सम बचन-मधु पोखत औषधिराज ।
त्रासत चोर-कुमित्र खल नंदत प्रजा-समाज ॥
चित-चकोर हरखित भए सेवक-कुमुद अनंद ।
मिट्यौ दीनतातम सबै लखि भूपति मुख-चंद ॥...
जदपि न भोज न व्यास नहिं बालमीकि नहिं राम ।
शाक्यसिंह 'हरिचंद' बलि करन जुधिष्ठिर श्याम ॥···
जद्यपि खँडहर सों भरी भारत भुव अति दीन ।
खोइ रत्न संतान सब कृस तन दीन मलीन ॥
तदपि तुमहिं लखि कै तुरत आनंदित सब गात ।
प्रान लहे तन सी अहो भारत भूमि दिखात ॥···
घर घर में मनु सुत भयो घर घर मैं मनु व्याह ।
घर घर बाढ़ी संपदा तुव आगम नर-नाह ॥
जैसे आतप तपित कों छाया सुखद गुनात ।
जवन-राज के अंत तुव आगम तिमि दरसात ॥···
जब लौं बानी वेद की जबलौं जग को जाल ।
जब लौं नभ ससि-सूर अरु तारागन की माल ॥···

आवत सोई बृटन कुँअर जल-पथ सुनि एहि छन।
ठाढ़ो भारत मग में निरखत प्रेम पुलक तन॥

कहाँ पांडु जिन हस्तिनापुर मधि कीनौ जाग।
राजसूय साँचो लखैं बृटन-रचित बल आग॥

उठहु उठहु भारत-जननि लेहु कुँअर भरि गोद।

सुनत सेज तजि भारत माई।
उठी तुरंतहि जिय अकुलाई॥
निविड़ केश दोउ कर निरुआरी।
पीत बदन की क्रान्ति पसारी॥
भरे नेत्र अँसुअन जल-धारा।
लै उसास यह वचन उचारा॥
क्यों आवत इत नृपति-कुमारा।
भारत में छायो अँधियारा॥
कहा यहाँ अब लखिबे जोगू।
अब नाहिंन इत वे सब लोगू॥
जिनके भय कंपत संसारा।
सब जग जिनको तेज पसारा॥
औरहु पुनि निज आनन पायो।
हाय अकेली हमहिं बनायो॥
भग्न दंड कंपित कर-धारी।
कब लौं ठाढ़ी रहौं दुखारी॥

कबहुँ कबहुँ अबहूँ सोई उदय होत चित आस ।
इनसों करहु न कुँअर तुम कबहूँ जीय उदास ॥
पालत पच्छिहु जो कुँअर करि पिंजरन महँ बंद ।
ताहू कहँ सुख देत नर जामें रहै अनन्द ॥
हम तुव जननी की निज दासी ।
दासी-सुत मम भूमि-निवासी ॥
तिनको सब दुख कुँअर छुड़ावो ।
दासी की सब आस पुरावो ॥
मेटहु भय कर अभय दिखाई ।
हरहु बिपति बच मधुर सुनाई ॥
बृटिश-सिंह के बदन कराला ।
लखि न सकत भयभीत भुआला ॥
फाटत हिय जिय थर थर कंपत ।
तेज देखिकै दृग जुग झंपत ॥
कहि न सकत मन को दुख भारी ।
झरत नैन जुग अबिरल बारी ॥
फिरहु कुँअर जब जननी पासा ।
कहियो पूरहिं मम मन-आसा ॥
मिथ्या नहिं कछु याके माहीं ।
राजभक्त भारत-सम नाहीं ॥
लेहिं प्रात उठिकै तुव नामा ।
करहिं चित्र तव देखि प्रनामा ॥

'प्रफुलित गात' देख उनके आनन्द का कारण खोज निकालते हुए भारतेन्दु अनुमान करते हैं—

…'कहा भूमि-कर उठि गयौ कै टिक्कस भो माफ़।
जन साधारन कों भयो किधौं सिविल पथ साफ़॥
नाटक अरु उपदेश पुनि समाचार के पत्र।
कारामुक्त भए कहा जो आनन्द अति अत्र॥
कै प्रतच्छ गो-बधन की जवनन छाँड़ी बानि।
जो सब आर्य प्रसन्न अति मन महँ मंगल मानि॥'…[१]

इन पंक्तियों से उन तत्कालीन प्रमुख समस्याओं की ओर संकेत मिलता है जिनके सुलझाने में शिक्षितवर्ग दत्तचित्त था। इसी सिलसिले में भारतेन्दु के निम्नलिखित कथन से हिन्दू नेताओं की राजनीति और उसके आर्थिक आधार पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अफ़ग़ान-युद्ध में सरकार ने अत्यधिक व्यय किया था—

…'कहा तुम्हैं नहिं खबर खबर जय की इत आई।
जीति देस गन्धार सत्रु सब दिये भगाई॥…
ताही कौ उत्साह बढ्यौ यह चहुँ दिसि भारी।
जय जय बोलत मुदित फिरत इत उत नर नारी॥

१—'विजय-वल्लरी' (१८८१), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४—६, पृ० ७९३

प्रफुलित गात' देख उनके आनन्द का कारण खोज निकालते हुए भारतेन्दु अनुमान करते हैं—

···'कहा भूमि-कर उठि गयौ कै टिक्कस भो माफ़।
जन साधारन कों भयो किधों सिविल पथ साफ़॥
नाटक अरु उपदेश पुनि समाचार के पत्र।
कारामुक्त भए कहा जो आनन्द अति अत्र॥
कै प्रतच्छ गो-बधन की जवनन. छांड़ी बानि।
जो सब आर्य प्रसन्न अति मन महँ मंगल मानि॥'···[१]

इन पंक्तियों से उन तत्कालीन प्रमुख समस्याओं की ओर संकेत मिलता है जिनके सुलझाने में शिक्षितवर्ग दत्तचित्त था। इसी सिलसिले में भारतेन्दु के निम्नलिखित कथन से हिन्दू नेताओं की राजनीति और उसके आर्थिक आधार पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अफ़ग़ान-युद्ध में सरकार ने अत्यधिक व्यय किया था—

···'कहा तुम्हें नहिं खबर खबर जय की इत आई।
जीति देस गन्धार सत्रु सब दिये भगाई॥···
ताही कौ उत्साह बढ्यौ यह चहुँ दिसि भारी।
जय जय बोलत मुदित फिरत इत उत नर नारी॥

१—'विजय-वल्लरी' (१८८१), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १—६, पृ० ७६३

तुमरे सुख सों सब सुख पावैं ।
छल तजि सदा तुवहि गुन गावैं ॥'...१

...'कहँ हम कहं तुम कहँ यह शुभ दिन कहँ यह सुभ संयोग ।
कहँ हतभाग भूमि भारत की कहँ तुम-से नृप लोग ॥...
जदपि राज तुव कुल को इत बहु दिन सों बरसत छेम ।
तदपि राज-दरसन बिनु नहिं नृप प्रजा माहिं कछु प्रेम ॥
सो अभाव सब तुव आवन सों मिट्यौ आज महराज ।'...२

..."डिसलायल' हिंदुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग ।
दृग भर निरखहिं आज ते राजभक्ति-संजोग ॥
निरभय पग आगेहिं परत मुख तें भाखत मार ।
चले बीर सब लरन हित पच्छिम दिसि इक बार ॥'...३

लॉर्ड लिटन (१८७६-१८८०) की अनुदार नीति ने देश में बहुत असन्तोष पैदा कर दिया था। जनता उनसे ऊब गई थी। १८८१ में अफ़ग़ान-युद्ध के समाप्त होने पर 'आर्यगनन' को

१—'भारत-भिक्षा' (१८७५), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, पृ० ७०२—७११

२—'मानसोपायन' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, पृ० ७२३

३—'भारत-वीरत्व' (१८७८), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ३८—३९, पृ० ७६५

'इनके जिय के हरख को औरहि कारन कोय ।
जो ये सब दुख भूलि कै रहे अनन्दित होय ॥
अब जानी हम बात जौन अति आनँदकारी ।
जासों प्रमुदित भये सबै भारत नर नारी ॥

नृप रहमान अयूब दोऊ मिलि कलह मचाई ।
अंत प्रबल ह्वै लिय अयूब गन्धार छुड़ाई ॥
आदि बंस नव बंस दोऊ काबुल अधिकारी ।
जाहि जातिगन चहैं करैं निज नृप बलधारी ॥

यामें हमरो कहा कउन उन सों मम नाता ।
भार पड़ैं मिलि लड़ै भिड़ैं झगड़ैं सब भ्राता ॥
दृढ़ करि भारत सीम बसैं अँगरेज सुखारे ।
भारत असु बसु हरित करहिं सब आर्य्य दुखारे ॥

सत्रु सत्रु लड़वाइ दूर रहि लखिय तमासा ।
प्रबल देखिए जाहि ताहि मिलि दीजै आसा ॥
लिबरल दल बुधि भौन शान्तिप्रिय अति उदार चित ।
पिछली चूक सुधारि अबै करिहै भारत हित ॥
खुलिहै "लोन" न युद्ध बिना लगिहै नहिं टिक्कस ।
रहिहै प्रजा अनन्द सहित बढ़िहै मंत्री-जस ॥
यहै सोचि आनन्द भरे भारतबासी जन ।
प्रमुदित इत उत फिरहिं आज रञ्जित लखि निज घन ॥'[१]

१—वही, ३३—४२, पृ० ७९५—७९६

नहिं नहिं यह कारन नहीं अहै और ही बात ।
जो भारतवासी सबै प्रमुदित अतिहिं लखात ॥
काबुल सों इनको कहा हिये हरख की आस ।
ये तो निज धन-नास सों रन सों और उदास ॥
ये तो समुझत व्यर्थ सब यह रोटी उतपात ।
भारत कोष विनास कों हिय अति ही अकुलात ॥
ईति भीति दुष्काल सों पीड़ित कर को सोग ।
ताहू पै धन-नास को यह बिनु काज कुयोग ॥
स्ट्रेची डिज़रैली लिटन चितय नीति के जाल ।
फँसि भारत जरजर भयो काबुल-युद्ध अकाल ॥
सबहिं भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी-लोक ।
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ को लोक ॥
सुजस मिलै अङ्गरेज़ कों होय रूस की रोक ।
बढ़ै बृटिश वाणिज्य पै हम कों केवल सोक ॥
भारत राज मँझार जौ कहुँ काबुल मिलि जाइ ।
जज कलक्टर होइहैं हिन्दू नहिं तित धाइ ॥
ये तो केवल मरन हित द्रव्य देन हित हीन ।
तासों काबुल-युद्ध सों ये जिय सदा मलीन ॥'....[1]

'भारत राज मँझार......' आदि पंक्तियों से आर्थिक लाभ के अतिरिक्त बड़े-बड़े सरकारी पद ग्रहण कर मुसलमानों पर शासन करने की ध्वनि भी निकलती है। इसी के आगे वे कहते हैं—

१—वही, ७, २३—३२, पृ० क्रमशः ७६३, ७६५

दिया उससे उनके ध्येय का रहस्य बहुत जल्दी खुल गया। वास्तव में वे आशीर्वाद देने नहीं गाली देने आए थे और मि० अर्डले नौर्टन (Eardley Norton) के अत्यन्त निंदा और क्रोधपूर्ण व्याख्यान में उन्हें करारा प्रत्युत्तर मिला।'[१]
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से इस प्रकार के व्यवहार की आशा कभी नहीं की जा सकती थी। उन्होंने स्वयं राजा शिवप्रसाद की ओर लक्ष्य करते हुए लिखा है—

…'सरकार अँगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको "स्टार आफ इंडिया" की पदवी मिलती है।'[२]

पदवियों के सम्बन्ध में उनका विचार था—

'इनकी उनकी खिदमत करो।
रुपया देते देते मरो॥
तब आवै मोहिं करन खराब।
क्यों सखि सज्जन नहीं खिताब॥'[३]

अस्तु, राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए उन्होंने कहीं भी बरती

१—'ए नेशन इन मेकिंग' (१६२५), पृ० १०६

२—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ३८५

३—'नए जमाने की मुकरी' (१८८४), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १२, पृ० ८१२

ये ही बातें सरकार के सामने माँगों का रूप धारण कर लेती थीं। किंतु राज्य-भक्ति प्रकट करते हुए भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने चरित्र की प्रमुखता, विचार-स्वातन्त्र्य, के कारण राजा शिवप्रसाद जैसे राज्य-भक्तों की श्रेणी में परिगणित नहीं किए जा सकते। वे 'गवर्नमेंट के आदमी' नहीं थे। उनके 'हढ़ करि भारत-सीम बसे अंगरेज सुखारे' आदि वाक्य और उनकी राज्य-भक्ति ऐतिहासिक परिस्थितिजन्य और भारत में अंगरेजों के माध्यम द्वारा पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक और आर्थिक क्षेत्रों में उत्पन्न चौमुखी और व्यापक चेतना और उसके कारण-ज्ञान के फलस्वरूप थे। भारत की नवोत्थित राष्ट्रीयता से वे ओतप्रोत थे। राष्ट्रीय हित एवं कल्याण के सामने उन्हें व्यक्तिगत लाभ रुचिकर प्रतीत न होता था। अपनी इसी स्वतन्त्र प्रकृति और राष्ट्र-प्रेम के कारण उन्हें सरकार का क्रोध-भाजन बनना पड़ा था। राजा शिवप्रसाद के सम्बन्ध में हेनरी पिंकौट के विचार तो प्रसिद्ध ही हैं। कांग्रेस के प्रयाग-अधिवेशन का उल्लेख करते हुए सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उनके विषय में लिखते हैं—

'बनारस के राजा शिवप्रसाद ने प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस पंडाल में प्रवेश किया। वे अफसरों के विश्वासपात्र थे। उनका कांग्रेस में आना एक आश्चर्यजनक बात थी। लेकिन यह एक कूटनीति या चाल थी। उन्होंने जो व्याख्यान

स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं। या यह तो बुद्धि का प्रभाव है। और यह तो इनके सुशासन और बल का फल है। साढ़े सत्रह सौ के सन् में जब अरकाट में क्लाइव किले में बन्द था तो हिन्दुस्तानियों ने कहा कि रसद घट गई है सिर्फ चावल है सो गोरे खाँय हम लोग माँड़ पीकर रहेंगे।'...[1]

'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥'[2]

'धन विदेस चलि जात' का ये कारण बताते हैं—

...'कल के कल बल छलन सों छले इते के लोग।
नित नित धन सों घटत हैं बाढ़त हैं दुख सोग॥
मारकीन मलमल बिना चलत कछु नहिं काम।
परदेसी जुलहान के मानहु भये गुलाम॥

१—'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६), भा० ना०, ई० प्रे०, पृ० ५८१—५८२

२—'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, ई० प्रे०, पृ० ५६८

'भारत दुर्दशा' (१८८०) में भारत दुर्दैव कहता है—

...'कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं ! हाहा हाहा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना ही बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं ! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख !'...[१]

इसी ग्रंथ में आगे चलकर लिखा है—

'(डिसलायलटी का प्रवेश)

सभापति—(आगे से ले आकर बड़े शिष्टाचार से) आप क्यों यहाँ तशरीफ़ लाई हैं ? कुछ हम लोग सर्कार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायलटी—नहीं, नहीं, तुम सब सरकार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली—(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है। सरकार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बोला ? व्यर्थ का बिभीषिका !

१—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६०३

वस्त्र काँच कागज कलम चित्र खिलौने आदि ।
आवत सब परदेस सों नितहि जहाजन लादि ॥
इत की रूई सींग अरु चरमहि तित लै जाय ।
ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय ॥
तिनही को हम पाइ कै साजत निज आमोद ।
तिन बिन छिन तन सकल सुख, स्वाद विनोद प्रमोद ॥
कछु तो वेतन में गयो कछुक राज-कर माँहि ।
बाकी सब व्यौहार में गयो रह्यौ कछु नाहिं ॥
निरधन दिन दिन होत है भारत भुव सब भाँति ।
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुधि-बल कांति ॥
यह सब कला अधीन है तामै इतै न ग्रन्थ ।
तासों सूझत नाहिं कछु द्रव्य बचावन पन्थ ॥'[1]

इसलिए वे चाहते थे—

...'बनै वस्तु कल की इतै मिटै दीनता खेद ॥'[2]
'राजनीति समझैं सकल पावहिं तत्व विचार ।'...[3]

स्वदेशी-प्रचार और भारत की औद्योगिक उन्नति उन्हें कितनी प्रिय थी, यह भी इन पंक्तियों से प्रकट होता है ।

१—'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५७—६४, पृ० ७३५—७३६

२—वही, ६६, पृ० ७३६

३—वही, ७०, पृ० ७३६ ।

'भारत दुर्दशा' (१८८०) में भारत दुर्दैव कहता है:—

…'कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं ! हाहा हाहा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना ही बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं ! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख !'…[1]

इसी ग्रंथ में आगे चलकर लिखा है—

'(डिसलायलटी का प्रवेश)

सभापति—(आगे से ले आकर बड़े शिष्टाचार से) आप क्यों यहाँ तशरीफ़ लाई हैं ? कुछ हम लोग सर्कार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायलटी—नहीं, नहीं, तुम सब सरकार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली—(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है। सरकार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बोला ? व्यर्थ का बिभीषिका !

१—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६०३

वस्त्र काँच कागज कलम चित्र खिलौने आदि ।
आवत सब परदेस सों नितहि जहाजन लादि ॥
इत की रूई सींग अरु चरमहि तित लै जाय ।
ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय ॥
तिनही को हम पाइ कै साजत निज आमोद ।
तिन बिन छिन तन सकल सुख, स्वाद विनोद प्रमोद ॥
कछु तो वेतन में गयो कछुक राज-कर माँहि ।
बाकी सब व्योहार में गयो रह्यौ कछु नाहिं ॥
निरधन दिन दिन होत है भारत भुव सब भाँति ।
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुधि-बल कांति ॥
यह सब कला अधीन है तामै इतै न ग्रन्थ ।
तासों सूझत नाहिं कछु द्रव्य बचावन पन्थ ॥'[1]

इसलिए वे चाहते थे—

...'बनै वस्तु कल की इतै मिटै दीनता खेद ॥'[2]
'राजनीति समझैं सकल पावहिं तत्व विचार ।'...[3]

स्वदेशी-प्रचार और भारत की औद्योगिक उन्नति उन्हें कितनी प्रिय थी, यह भी इन पंक्तियों से प्रकट होता है ।

१—'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५७—६४, पृ० ७३५—७३६

२—वही, ६६, पृ० ७३६

३—वही, ७०, पृ० ७३६ ।

=

थी। इसके विपरीत यदि रिपन जैसा कोई उदार शासक हुआ तब तो उनकी राज्य-भक्ति और गुणगान का स्रोत फूट पड़ता था! रिपन की लोकप्रियता अँगरेजी शासन के इतिहास में अमर रहेगी। 'रिपनाष्टक' (१८८४) में भारतेन्दु ने उनको उदार', 'भारत हितकारी', 'जन-शोक-विदारी', 'सत्य-पथ-पथिक', 'मुद्रा-स्वाधीन-करन', 'भृत्य-वृत्ति-प्रद', 'प्रजा-राज्यस्थापन-करन', 'हरन दीन भारत-विपद', 'भारतबासिहि देन नव-महा-न्याय-पति प्रथम पद', 'हिन्दू-उन्नति-पथ-अवरोध-मुक्त-कर', 'कर-बंधन-मंथन-कर', 'जन-सिच्छन-हेत समिति-सिच्छा-संस्थापक', 'सेतासेत बरन सम संमत मापक', 'भारत-शिल्पोन्नति-करन', 'प्रजावत्सल', 'सत्य-प्रिय', 'भारत-नव-उदित-रिपन-चंद्रमा', तथा

'जय तीरथपति रिपन प्रजा अघ-शोक-विनाशक।
गंग-जमुन-सम मिलित तदपि जान्हवि मरजादक॥
अच्छय बट सम अचल कीर्त्ति थापक मन पावन।
गुप्त सरस्वति प्रगट कमीशन मिस दरसावन॥
कलि-कलुष प्रजागत-भीति को सब बिधि मेटन नाम रट।
जय तारन-तरन-प्रयाग-सम जस चहुँ दिसि सब पै प्रगट॥

'जदपि बाहु-बल क्लाइव जीत्यौ सगरो भारत।
जदपि और लाटनहू को जन नाम उचारत॥
जदपि हेस्टिंग्ज़ आदि साथ धन लै गए भारी।
जदपि लिटन दरबार कियो सजि बड़ी तयारी॥

डिस०—हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कविवचनसुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए ? हम लाचार हैं !

× × ×

सभा०—तो पकड़ने का आपको किस कानून से अधिकार है ?

डिस०—इँगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।

महा०—परन्तु तुम ?

दू० देशी—(रोकर) हाय-हाय ! भटवा तुम कहता है अब मरे।

महा०—पकड़ नहीं सकतीं, हमको भी दो हाथ पैर हैं। चलो हम लोग तुम्हारे संग चलते हैं, सवाल-जवाब करेंगे।

बंगाली—हाँ चलो, ओ का बात—पकड़ने नहीं शेकता।"[1]

× × ×

सरकारी निरंकुशता का कितने प्रभावोत्पादक ढंग से लेखक ने दिग्दर्शन कराया है। जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी गई थीं उस समय लॉर्ड लिटन के अनुदार शासन से प्रजा असन्तुष्ट

१—भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६२६-६२७

करते थे क्योंकि उग्रनीति को वे निष्फल और भयावह परिणामों से परिपूर्ण समझते थे। वे अपने को ब्रिटिश साम्राज्य की संतान कहलाने में गर्व की बात समझते थे। ऐसी दशा में वैध आन्दोलन में उनका विश्वास होना स्वाभाविक था। वे प्रतिनिधि शासन चाहते थे जिसमें भारतवासियों (विशेषतः हिंदुओं) का प्रधान भाग हो। जो भारत-सचिव या वाइसरॉय उनकी इन आकांक्षाओं से सहानुभूति रखता था उसे लोकप्रिय होने में देर न लगती थी। रिपन से पहले बेंटिंक इसी प्रकार के गवर्नर-जनरल थे। उस समय भारत सचिव या वाइसरॉय की भारत की आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति या उदासीनता अथवा वैपरीत्य के अनुकूल ही भारतीय राजनीतिक विचारों में ज्वार-भाटा आया करते थे। भारतेन्दु इसके कोई अपवाद न थे।

अन्त में विदेशी धर्मावलंबी मुसलमानों और अँगरेजों के शासनों की तुलना करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। इससे उनकी विचारधारा पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है—

'यद्यपि उस उर्दू शेर के अनुसार 'बागवां आया गुलिस्तां में कि सैयाद आया। जो कोई आया मेरी जान को जल्लाद आया।' क्या मुसलमान क्या अङ्गरेज भारतवर्ष को सभी ने जीता, किन्तु इनमें उनमें तब भी बड़ा प्रभेद है। मुसलमानों के काल में शत सहस्र बड़े बड़े दोष थे किन्तु दो गुण थे।

पै हम हिन्दुन के हीय की भक्ति न काहू सँग गई।
सो केवल तुमरे सँग रिपन छाया सी साथिन भई॥
'शिवि दधीच हरिचंद कर्ण बलि नृपति युधिष्ठिर।
जिमि हम इनके नाम प्रात उठि सुमिरत हैं चिर॥
तिमि तुमहू कहँ नितहिं सुमिरिहैं तुव गुन गाई।
यासों बढ़ि अनुराग कहो का सकत दिखाई॥
हम राजभक्ति को बीज जो अब लौं उर अंतर धर्यौ।
निज न्याय-नीर सों सींचि कै तुम वामैं अंकुर कर्यौ॥
'निज सुनाम के बरन किए तुम नकल सबहि बिधि।
रिपु सब किए उदास दई हिय राजभक्ति सिधि॥
महरानी को पन राख्यौ निज सवल रीति बल।
परि मध न्याव-तुला के नप राख्यौ सम दुहुँ दल॥
अब प्रजापुंज-सिर आपकौ रिन रहिहै यह सर्व छन।
तुम नाम देव सम नित जपत रहिहैं हम हे श्री रिपन॥'[1]

आदि कहकर उनका जयगान किया है। वास्तव में जैसा कि सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है कि ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में रहने का ध्येय सामने रखकर ही अँगरेजी नीति का समर्थन या विरोध—वह भी सविनय—करना ही तत्कालीन भारतीय नेताओं का सिद्धान्त था। वे उदार नीति का पालन

१—'रिपनाष्टक (१८८४), भा० ग्रं० द्वि० ना० प्र० स० ५—८ पृ० ८१६—८१७

को जैसी शुभ शिक्षा मिली है उसके हम उनके ऋणी हैं। भारत कृतघ्नी नहीं है। यह सदा मुक्तकंठ से स्वीकार करेगा कि अङ्गरेजों ने मुसलमानों के कठिन दंड से हमको छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से सारा धन ले गए किन्तु पेट भरने को भीख माँगने की विद्या भी सिखा गए।"[1]

उनकी आपत्तियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वास्तव में आर्थिक पक्ष छोड़ कर मुसलमानी और अँगरेजी राज्यों के प्रति भारतेन्दु साहित्य में 'आनन्द मठ' वाली भावना सर्वत्र व्याप्त है।

१—'बादशाह दर्पण' (सर्वप्रथम १८८४ में मेडिकल लाल प्रेस, बनारस से मुद्रित), १६१७, खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर, द्वितीय संस्करण, भूमिका भाग

प्रथम तो यह कि उन सबों ने अपना घर यहीं बनाया था इससे यहाँ की लक्ष्मी यहीं रहती थी। दूसरे बीच बीच में जब कोई आग्रही मुसलमान बादशाह उत्पन्न होते थे तो हिन्दुओं का रक्त भी उष्ण हो जाता था इससे वीरता का संस्कार शेष चला आता था। किसी ने सच कहा कि मुसलमानी राज्य हैज़े का रोग है और अङ्गरेज़ी राज्य क्षयी का। इनकी शासन प्रणाली में हम लोगों का धन और वीरता निःशेष होती जाती है। बीच में जाति पक्षपात, मुसलमानों पर विशेष दृष्टि[1] आदि देखकर लोगों का जी और भी उदास होता है। यद्यपि लिबरल दल से हम लोगों ने बहुत सी आशा बाँध रक्खी है पर वह आशा ऐसी है जैसे रोग असाध्य हो जाने पर विषवटी की आशा। जो कुछ हो, मुसलमानों की भाँति इन्होंने हमारी आँख के सामने हमारी देवमूर्तियां नहीं तोड़ीं और स्त्रियों को बलात्कार से छीन नहीं लिया, न घास की भाँति सिर काटे गए और न ज़बरदस्ती मुँह में थूक कर मुसलमान किए गए। अभागे भारत को यही बहुत है। विशेष कर अङ्गरेज़ों से हम लोगों

१—१८५७ से पूर्व अँगरेज़ों की मुसलमानों पर विशेष कृपादृष्टि थी। किन्तु उसके बाद पलड़ा उलटा और विद्रोह के कुछ वर्ष बाद हिन्दू उनके कृपापात्र बने। विद्रोह के कुछ वर्ष बाद तक पुरानी व्यवस्थाका बना रहना अनिवार्य था।

पृष्ठों में इन बातों की ओर संकेत किया जा चुका है कि अँगरेजों के आने से भारत की आर्थिक एवं सांस्कृतिक अवस्था को भारी धक्का पहुँचा था। किंतु उससे लाभ भी अनेक हुए थे। मुसलमानी राज्य के अन्तिम दिनों में भारतीय जीवन की व्यवस्था ढीली और अनुशासनहीन हो चली थी। अधःपतन और विनाश ने समाज के अंग-अंग में प्रवेश कर लिया था। देश में प्रमाद, आलस्य और मिथ्याचार ने घर कर लिया था। सभ्यता और संस्कृति के घातक चिन्ह प्रगट हो गए थे। नवीन धारा के कवि अपने देश की इन दुर्वलताओं और बुराइयों से अनभिज्ञ नहीं थे। अँगरेजी राज्य के सुखों की सराहना करने के साथ-साथ देश की पतितावस्था भी प्रमुख रूप से उनके सामने आ खड़ी होती थी। जिस समय भारतवर्ष अंधकार के गर्त में डूवा हुआ था सौभाग्य से उस समय उसका पश्चिम की एक जीवित जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। फलतः देश में स्फूर्ति और उत्तेजना उत्पन्न होना अवश्य-भावी था। अँगरेजों के सम्पर्क से जिन नवीन और उन्नत विचारों का जन्म हुआ उनके प्रकाश में भारतीय जीवन का फिर से संस्कार करने की वात सोचना स्वाभाविक ही था और कुछ हद तक इसके लिए भारतवर्ष में अँगरेजों की उपस्थिति आवश्यक और ईश्वर द्वारा प्रेरित मानी गई। अँगरेजी राज्य में भी देशवासियों की आलस्यता, अनुद्यमता, उनका आलस्य, पतनोन्मुख संतोष आदि की ओर लक्ष्य करते हुए भारतेन्दु भारत के मुख से कहलाते हैं—

५. विविध सुधार

भारतीय नेता एक ओर तो सरकार के सामने अपनी माँगें पेश करते थे, जो प्रायः राजनीतिक हुआ करती थीं, और दूसरी ओर, मुख्यतः सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में, वे जनता को सुधारने और उसको उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते थे। शुरू में तो इन विविध सुधारवादी आंदोलनों को सार्वजनिक जीवन में इतना महत्व दिया जाता था कि राजनीतिक सभाओं के साथ-साथ सुधारवादी सभाएँ भी हुआ करती थीं। प्रायः नेतागण दोनों प्रकार की सभाओं में भाग लिया करते थे। कुछ लोगों का विचार था कि राजनीतिक कार्यक्रम की अपेक्षा सामाजिक एवं धार्मिक कार्यक्रम को अधिक महत्त्व मिलना चाहिए, क्योंकि जनता का इससे सीधा और घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके विपक्षी दल का विचार था कि राजनीतिक शासन की वागडोर अपने हाथ में लिए बिना सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों में समय और शक्ति लगाना व्यर्थ है। विजय अन्त में राजनीतिक पक्ष वालों की हुई। किंतु यह बहुत बाद की बात है। जब तक भारतेन्दु जीवित रहे तब तक राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों का आपस में गठबंधन रहा, वे एक दूसरे के साथ चलते थे। पिछले

...'अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है। एक तस्सा बाकी है, अब की हाथ में वह भी साफ है! भला हमारे बिना और ऐसा कौन कर सकता है कि अँगरेजी अमलदारी में भी हिंदू न सुधरें!'...[१]

अँगरेजों के पास विद्या का प्रकाश था। अंधकार वहाँ फटक भी नहीं सकता था—

'अन्धकार—आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।

भारतदुर्दैव—नहीं विलायत जाने का अभी समय नहीं, अभी वहाँ त्रेता, द्वापर है।

अन्ध०—नहीं, मैंने एक बात कही। भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्राबल्य है, मैं वहाँ जाही के क्या करूँगा। गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जायगी।

भारतदु०—हाँ, तो तुम हिन्दुस्तान में जाओ'...[२]

इन्हीं अँगरेजों के सम्पर्क में आने पर भारतेन्दु अपने देश वासियों को उन्नतिपथगामी देखना चाहते थे। किंतु—

...'अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।
स्वारथ-पर विभिन्न-मति-भूले हिंदू सब ह्वै मूढ़॥

---

१ -वही, पृ० ६०३

२—वही, पृ० ६१८

'भारत—हा ! यह वही भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दूतत्व करने पर भी······हाय ! अब मुझे कोई शरण देने वाला नहीं। (रोता है) मातः राजराजेश्वरी, विजयिनि ! मुझे बचाओ। अपनाए की लाज रक्खो। अरे दैव ने सब कुछ मेरा नाश कर दिया पर अभी संतुष्ट नहीं हुआ। हाय ! मैंने जाना था कि अँगरेजों के हाथ में आकर हम अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म बितावेंगे पर दैव से वह भी न सहा गया। हाय ! कोई बचाने वाला नहीं।

'कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ ॥···

× × ×

भारत—···हाय ! परमेश्वर वैकुण्ठ में और राज राजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी ?'···[१]

इन पंक्तियों से सम्राट् या साम्राज्ञी के प्रति उनकी प्राचीन भारतीय भावना की ओर भी संकेत प्राप्त होता है। आगे चलकर एक स्थान पर भारतदुर्दैव कहता है—

१—'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ५९९—६००

चली आ रही थीं और कुछ उस समय पैदा हो गई थीं। इनसे भारत का सर्वनाश हो रहा था और चारों ओर अंधकार ही

विषमौषधम्' (१८७६), 'दिल्ली दरबार-दर्पण' (१८७७), 'भारत-जननी' (१८८४, भारत जीवन प्रेस. तृतीय संस्करण), 'भारत-दुर्दशा' (१८८०), 'अंधेर-नगरी' (१८८१), 'प्रेम जोगिनी' (१८७५), 'पूर्ण-प्रकाश और चन्द्रप्रभा', 'भ्रूण-हत्या', 'प्रतिभा पूजन विचार', 'हाउ कैन इंडिया बि रिफॉर्मेड', 'नए जमाने की मुकरी' (१८८४) 'बकरी-विलाप' (१८७४) आदि।

उदाहरणार्थ :—भारतेन्दुकालीन राजा-महाराजाओं और नवाबों के यहाँ अधिकतर फ़िकरेबाज़ों और कुव्यसनियों का जमाव रहाता था। काल-गति के साथ उन्नति की ओर अग्रसर होना वे जानते ही न थे। वैसे भी उनकी अवस्था शोचनीय थी। भारतेन्दु 'दिल्ली दरबार दर्पण' (१८७७) में छोटे-छोटे राजाओं की, जिनकी संख्या देश में काफ़ी थी और है, वर्णन करते हुए लिखते हैं—

'बहुत से छोटे-छोटे राजाओं की बोल-चाल का ढंग भी, जिस समय वे वाइसराय से मिलने आए थे, संक्षेप के साथ लिखने के योग्य है। कोई तो दूर ही से हाथ जोड़े आए, और दो एक ऐसे थे कि जब एडिकांग के बदन झुका कर इशारा करने पर भी उन्होंने सलाम न किया तो एडिकांग ने पीठ पकड़ कर उन्हें धीरे से झुका दिया। कोई बैठकर उठना जानते ही न थे, यहाँ तक कि एडिकांग को "उठो" कहना पड़ता था।'
...पृ० ३

जग के देस बढ़त बदि-बदि के सब बाजी जेहि काल,
ताहू समय रात इनको है ऐसे ये बेहाल ॥'...[१]

इस संबन्ध में उन्होंने तत्कालीन भारत में प्रचलित निर्धनता, बुभुक्षा, अकाल, महँगी, रोग, फूट, बैर, कलह, आलस्य, संतोष, खुशामद, कायरता, टैक्स, अनैक्य, यवनों द्वारा देश की दुर्दशा, धार्मिक मतमतान्तर, छुआछूत, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, जन्मपत्र से विधि मिलाकर विवाह करना, बहु-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध और उससे उत्पन्न व्यभिचार, अशिक्षा और अज्ञानता, रूढ़ि, प्रियता, समुद्र-यात्रा-प्रतिबन्ध अर्थात विलायत-गमन-निषेध और फलतः कूपमंडूक बने रहना, बाह्य संसार से विमुखता, ईश्वर को भूलकर देवी-देवता, भूत प्रेतादि की पूजा में चित्त देना, धार्मिक कर्मकांड और पाखंड, धर्म की आड़ में धर्म-वंचकता और व्यभिचार, राजा-महाराजाओं की बुद्धि-बल-हीनता, नारी-विहार, व्यभिचार आदि, अपव्यय, अदालती बुराइयाँ, पुलीस के अत्याचार, फैशन, सिफारिश, घूँस, शिक्षितों की बेकारी, पुलीस के कारनामों, सुरा-सेवन, मांस-भक्षण (यहाँ तक कि बीफ़ भी), आदि धार्मिक और सामाजिक कुप्रवृत्तियों एवं कुप्रथाओं, आचार-विचार-हीनता और नैतिक पतन का अपनी विविध रचनाओं में उल्लेख किया है।[२] इनमें से कुछ बातें तो पहले से

१—वही, पृ० ६१८

२—जैसे, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३), 'विषस्य

हो गया था। वे बहुत सी ऐसी बातें करते थे जिनसे कट्टर भारतवासियों को ही नहीं वरन् देशभक्त, नवशिक्षित, उन्नत और उदार एवं प्रगतिशील व्यक्तियों तक को मर्मांतक पीड़ा

खोखी—लाख ज़रूरत हो तो क्या, पुरानी रस्मों में कभी तरमीम न करना चाहिए। क्या वे लोग अहमक़ थे? एक आप ही बड़े अक्लमन्द पैदा हुए?

'बकरी-विलाप' (१८७४) में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बलिदान प्रथा की आलोचना करते हुए लिखा है कि जब हिन्दू स्वयं बलि देते हैं तो यवनों को दोष देना व्यर्थ है। बलि देना वैदिक धर्म की विडम्बना है। उसके रहते हुए वैदिक धर्म का अभिमान करना न्याय संगत नहीं। हिंसा प्रेरक धर्म से स्वर्ग भी मिले तो धिक्कार है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) में यमराज कहते हैं '...क्या बकरा जगत् के बाहर है? चांडाल सिंह को बलि नहीं देता—"अजा-पुत्रं बलिं दद्याद्देवो दुर्बल घातकः" ...दुष्ट कहीं का वेद-पुराण का नाम लेता है। मांस मदिरा खाना-पीना है तो यों ही खाने में किसने रोका है, धर्म को बीच में क्यों डालता है...' (पृ० ३९०)। एक अन्य स्थल पर उनका कहना है—'महाराज वैष्णवों का मत तो जैनमत की एक शाखा है और महाराज दयानन्द स्वामी ने इन सबका खूब खंडन किया है, पर वह तो देवी की मूर्ति भी तोड़ने को कहते हैं। यह नहीं हो सकता क्योंकि फिर बलिदान किसके सामने होगा?' (वही, पृ० ३७३) अपने स्वार्थ के लिए उनका एक पात्र प्राचीन हिन्दुओं की ओर संकेत

अंधकार दिखाई देता था। अँगरेज़ी शिक्षितों में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठाकर देश-सेवा में तत्पर होने के स्थान पर वहाँ के आचार-विचारों का अन्धानुकरण अत्यधिक प्रचलित

यह कितना उपहासास्पद है!

सरशार कृत 'फ़िसाने आज़ाद' (१८८४) में रूसी सिपाहियों द्वारा पकड़े जाने पर खोजी ने उनके कुछ प्रश्नों के जो उत्तर दिए उन्हें बहुत कुछ तत्कालीन साधारण भारतीय जनता की मनोवृत्ति का प्रतिनिधि परिचायक माना जा सकता है—

'सिपाही—आप कुछ पढ़े-लिखे भी हैं।

खोजी—ऊह, पूछते हैं पढ़े लिखे हैं। यहाँ बिला पढ़े ही आलिम-फ़ाज़िल हैं, पढ़ने का मरज़ नहीं पालते, यह आरज़ा तो यहीं देखा, अपने यहाँ तो चंडू, चरस, मदक का चरचा रहता है। हाँ, अगले ज़माने में पढ़ने-लिखने का भी रिवाज था।

× × ×

सिपाही—एक मुसाफ़िर ने हमसे कहा था कि हिन्दोस्तान में लोग पुराने रस्मों के बहुत पाबन्द हैं। अब तक पुरानी लकीरें पीटते जाते हैं।

खोज़ी—तो क्या हमारे बाप दादे बेवकूफ़ थे? उनके रस्मों को जो न माने वह कपूत, जो रस्म जिस तरह पर चली आती है उसी तरह रहेगी?

सिपाही—अगर कोई रस्म खराब हो तो क्या उसमें तरमीम की ज़रूरत नहीं?

होकर आवाज़ उठाई हो सो बात नहीं। इन तथा अन्य नवोदित बुराइयों से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही थीं और राष्ट्रीय जीवन का ह्रास हो रहा था। बंगाल के हिंदू कालेज के अँगरेजी शिक्षितों के उत्पात को कौन नहीं जानता। अपनी 'प्रगतिशीलता' की झोंक में वे मांस तथा अन्य अभक्ष्य पदार्थ कट्टर हिंदुओं के घरों में फेंक देते थे। इससे शांति भंग होने की बराबर आशंका बनी रहती थी। भारतीय स्वभावतः सहिष्णु होते हैं। वे चाहते थे कि अँगरेजी-शिक्षित अपने लिए चाहे जो कुछ करें, स्वयं उनके जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाई जानी चाहिए। किंतु अँगरेजी शिक्षितों के व्यवहार से सब समझदार व्यक्तियों को दुःख पहुँचता था। मद्यपान का उस समय इतना प्रचार बढ़ गया था कि शिक्षित लोग शराब न पीने वालों को असभ्य समझते थे। वे उसे सभ्यता का 'मूलसूत्र' समझते थे। नशे में चूर होकर वे समाज के लिए संकट पैदा कर देते थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी प्रभृति देशभक्तों ने भी पश्चिम के अन्धानुकरण से उत्पन्न ऐसी कुप्रवृत्तियों की ज़ोरदार शब्दों में बुराई की थी। एक अँगरेज़ अपनी भाषा, अपने साहित्य, देश, समाज की सेवा करता था, ज्ञान-पिपासा शांत करने के विविध साधन खोज निकालता था, उसमें अदम्य

'···ये दुष्ट दूसरों की स्त्रियों को माँ और बेटी कहते हैं और लम्बा-लम्बा टीका लगा कर लोगों को ठगते हैं' (वही, पृ० ३६२), आदि

होती थी। उन्होंने भाषा, धर्म, अपने आचार-विचार, व्यवहार, खाना-पीना, रहन-सहन आदि को योजन दूर अलग रख दिया था। वे 'बाबू बनिबे के हित' तो मरते थे, किन्तु देशसेवा के नाम से उनके प्राण निकलते थे। अपनी देशी जनता को भी वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने मद्य-पान, मांस-भक्षण आदि के विरुद्ध केवल नैतिक भावना से प्रेरित

करता है कि वे गो-मांस तक खाते थे और महाभारत आदि धर्मशास्त्र, डा० राजेन्द्रलाल मित्र और एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल आधार स्वरूप उद्धृत करता है। इसके पूर्व वह कहता है—'···अँगरेज़ों के राज्य में इतनी गो हिंसा होती ह सब हिन्दू बीफ़ खाते हैं उन्हें आप दंड नहीं देते और हाय हमसे धार्मिक की यह दशा, दुहाई वेदों की, दुहाई धर्म-शास्त्र की, दुहाई व्यास जी की, हाय रे मैं इनके भरोसे मारा गया।' (वही, पृ० ३८६) अन्य सामाजिक एवं धार्मिक अनाचारों के संबन्ध में वे लिखते हैं—'···जिन हिन्दुओं ने थोड़ी भी अँगरेजी पढ़ी है वा जिनके घर में मुसलमान स्त्री है उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आजाद हैं।' (वही, पृ० ३७६),

'मदिरा ही पान हित, हिंदू धर्महिं छोड़ि।
बहुत लोग ब्राह्म बनत, निज कुल सों मुख मोड़ि॥
ब्रांडी को अरु ब्राह्म को, पहिलो अच्छर एक।
तासों ब्राह्मो धर्म में, यामें दोस न नेक॥'

(वही, पृ० ३८०)

बोझ लादि कै पैर छानि कैं निज-सुख करहु प्रहार।
ये रासभ से कछु नहिं कहिहैं मानहु छमा-अगार॥
"हित अनहित पशु पंछी जाना" पै ये जानहिं नाहिं।
भूले रहत आपुने रँग मैं फँसे मूढ़ता माहिं॥
जे न सुनहिं हित, भलो करहिं नहिं तिनसों आसा कौन'...[1]

देश को दुर्दैव से बचाने के लिए एक मत, संगठन (बंगाल के इंडियन एसोसिएशन की भाँति) और समाचारपत्रों और सभाओं द्वारा आंदोलन करने की अत्यंत आवश्यकता थी। इसमें हाकिमों से डरने की कोई बात नहीं थी क्यों कि 'हम लोग सदा चाहता कि अँगरेजों का राज्य उत्सन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करता।' इसके अतिरिक्त उद्योग-धंधों की उन्नति और स्वदेशी का प्रचार करना भी एक साधन था। अँगरेजों को निकालने की (उस समय) व्यर्थ बात सोचने के बजाय वे एकचित्त हो विद्या और कला की उन्नति चाहते थे ताकि देश की वास्तविक प्रगति हो। किंतु कुछ अँगरेज शासकों, विशेषत: छोटे-छोटे हाकिमों, की अनुदार नीति के कारण 'डिसलायल्टी' के अपराध में पकड़े जाने के भय से लोग कुछ करने में डरते थे। हमारे कवियों की वाणी तो इतनी क्षीण हो गई थी कि वे चूड़ियाँ पहिन कनात के पीछे से बाहर हाथ निकाल कर उँगली चमका

१—'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६१९—६२०

शौर्य और उत्साह था। किंतु अँगरेजी शिक्षित भारतवासियों में इन गुणों के बदले अपने देश और समाज में न खपने वाली और अहितकारी बातों की प्रबलता पाई जाती थी। इन्हीं सब विषयों की ओर लक्ष्य करते हुए भारतेन्दु ने कहा है—

…'लिया भी तो अँगरेजों से औगुन !'…

अतएव भारतदुर्दैव के वीरों की देश में चारों ओर तूती बोल रही थी और वे अच्छी तरह 'हिंदुओं से समझ रहे थे।' छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, शिक्षित-अशिक्षित सब पर उनका जाल बिछा हुआ था। वे नवयुग के प्रकाश से अपनी उन्नति का मार्ग नहीं खोज पा रहे थे। यह देखकर भारतेन्दु को भारत के सर्वनाश की निश्चय आशा हो गई थी—

'निहचै भारत को अब नास।
जब महराज विमुख उनसों तुम निज मति करी प्रकास॥
अब कहुँ सरन तिन्हैं नहिं मिलिहैं ह्वै है सब बल चूर।
बुधि विद्या धन धान सबै अब तिनको मिलिहैं धूर॥
अब नहिं राम धर्म्म अर्जुन नहिं शाक्यसिंह अरु व्यास।
करिहै कौन पराक्रम इनमें को दैहै अब आस॥…
छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चंचल विगत उछाह।
उदर-भरन-रत, ईस-विमुख सब भए प्रजा नर नाह॥
इनसों कछू आस नहिं ये तो सब विधि बुधि-बल-हीन।
बिना एकता बुद्धि कला के भए सबहि विधि दीन॥

से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्रामगीत, वही बाल्यविवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि! वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चालें। हाय अब भी भारत की यह दुर्दशा! अरे अब क्या चिता पर सम्हलेगा। भारत भाई! उठो...प्यारे जागो। (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है। किसी तरह होश में नहीं आता। हा भारत! तेरी क्या दशा हो गई! हे करुणासागर भगवान् इधर भी दृष्टि कर। हे भगवती राजराजेश्वरी, इसका हाथ पकड़ो। (रोकर) अरे कोई नहीं जो इस समय अवलंब दे। हा! अब मैं जी के क्या करूँगा?...(रोता है) हा विधाता, तुझे यही करनी थी! (आतंक से) छि: छि: इतना क्लैव्य क्यों? इस समय यह अधीरजपना! बस, अब धैर्य! (कमर से कटार निकाल कर) भाई भारत! मैं तुम्हारे ऋण से छूटता हूँ! मुझसे वीरों का कर्म्म नहीं हो सकता। इसी से कातर की भाँति प्राण देकर उऋण होता हूँ...भैया, मिल लो, अब मैं विदा होता हूँ। भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते? मैं ऐसा बुरा हो गया कि जन्म भर के वास्ते मैं विदा होता हूँ तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते। मैं ऐसा ही

कर 'मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं' कहकर दुश्मन को पीछे हटाने के अतिरिक्त दूसरा उपाय न सोच पा रहे थे। दूसरे जो लोग सजग थे उनके लाख प्रयत्न करने पर भी देशवासियों की 'मोहनिद्रा' नहीं टूट रही थी। भारतेंदु के निराशापूर्ण शब्दों में—

'भारतभाग्य—हाँ! भारतवर्ष को ऐसी मोहनिद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं। सच है, जो जान-बूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा? हा दैव! तेरे विचित्र चरित्र हैं, जो कल राज करता था वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता है।...हा! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, पाणिनि, शाक्यसिंह, बाणभट्ट प्रभृति कवियों के नाममात्र से अब भी सारे संसार से ऊँचा है, उस भारत की यह दुर्दशा!...हाय, भारत भैया, उठो! देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अँगरेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहिचाना। विद्या की चरचा फैल चली, सबको सब कुछ कहने सुनने का अधिकार मिला,[1] 'देश-विदेश

१—अँगरेज़ी शासन से पूर्व आधुनिक 'जनमत' नाम की कोई चीज़ भारत में नहीं थी।

पूजते तो स्त्री 'भूत' पूजती थी। इसी से जब तक घर-घर में स्त्री और पुरुष 'विद्या-बुद्धि-निधान' न बन जाते तब तक उन्नति की कोई आशा नहीं थी। यह कार्य निज भाषा की उन्नति के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। इसलिए जिस प्रकार अँगरेजों ने अनेकानेक विद्याओं और ज्ञान के ग्रंथ अपनी भाषा में निर्मित तथा दूसरी भाषाओं से अनूदित कर अपनी उन्नति की उसी प्रकार भारतवासियों को उनका अनुकरण करना चाहिए। अँगरेजी भाषा में अनेक त्रुटियाँ हैं। किन्तु अपनी भाषा जानकर अँगरेज उसे नहीं छोड़ते। उसी प्रकार भारतवासियों को भी अपनी भाषा नहीं छोड़नी चाहिए। प्रत्येक स्थान से गुण ग्रहण कर ही अँगरेज 'विद्या के भौन' बने हुए थे। भारतवासियों को भी जो कुछ वे विदेशी भाषा में पढ़ें उसे अपनी भाषा में किए बिना अपने को कृतकृत्य नहीं समझना चाहिए। अँगरेज तो तुलसी रामायण का आशय भी अपनी भाषा में किए बिना संतुष्ट नहीं होते। इस प्रकार धर्म, युद्ध, विद्या, कला, गीत, काव्य और ज्ञान के समझने के लिए निज भाषा की महत्ता बताते हुए वे कहते हैं—

...'सौंप्यौ ब्राह्मन को धरम तेई जानत वेद।
तासों निज मत को लख्यो कोऊ कबहुँ न भेद॥
तिन जो भाख्यो सोइ कियो, अनुचित जदपि लखात।
सपनहुँ नहिं जानी कछू अपने मत की बात॥

अभागा हूँ तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या, बस यह लो। (कटार का छाती में आघात और साथ ही जवनिका पतन)'[1]—

वास्तव में भारतेंदु हरिश्चंद्र अँगरेजों से अच्छी-अच्छी, जैसे देशभक्ति, समाजसेवा आदि, और उन बातों के लेने के पक्षपाती थे जिनसे देश अधोगति के गर्त से निकल कर उन्नति-पथ की ओर गतिमान हो सकता था और साथ ही जो बातें भारतीय चिंता-पद्धति और जीवन में खप सकती थीं। उदाहरणार्थ, निज भाषा-ज्ञान और महत्व पर जोर देते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि अँगरेजी पढ़ने से अनेक गुण प्राप्त होते हैं किंतु उनका अपनी भाषा द्वारा प्रचार करने से ही कल्याण हो सकता है। घर में अपनी स्त्रियों को लोग उस समय अँगरेजी नहीं पढ़ाते थे। और गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त करने पर भी बालकों की प्रधान शिक्षिका माता ही रहती है। उस माता के ज्ञान के लिए हिन्दी भाषा परमावश्यक थी। अँगरेजी शिक्षित और निज-भाषा-ज्ञान विहीन व्यक्ति घर से बाहर तो अपनी शान जमा लेता था, किन्तु घर के व्यवहार में वे निपट अज्ञानी बने रहते थे। या तो 'पतलून पहिन कर साहब बन जाते थे' या मौलवी साहब। इनसे वे अपनी स्त्रियों का भला न कर पाते थे। पतिदेव यदि 'देहरा'

१—'भारत दुर्दशा (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६२४-६२७

देश के आचार-विचार, शिष्टाचार आदि बातें सीखते। वे अपना धर्म पहिचानते। इसलिए दूसरों के आधीन रहना छोड़ कर औरों की भाँति अपनी भाषा द्वारा अपनी उन्नति करने के लिए उन्होंने प्रोत्साहन दिया। अँगरेजी ही नहीं संस्कृत, अरबी और फारसी के खुले खजानों से लूट मचाकर निज भाषा-भाण्डार भरने के वे पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि विविध विषयों की छोटी-बड़ी किताबें रची जाकर बाल, वृद्ध, नर-नारि सब ज्ञान-संयुक्त हों और भारत में फिर से सुप्रभात हो। इस संबंध में उन्होंने अँगरेजों से ही शिक्षा ग्रहण की थी।

इसी प्रकार नवोत्थान काल के एक और प्रमुख विषय, स्त्रियों की उन्नति, के संबंध में वे लिखते हैं—

> ...'जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविधवर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ, प्रसन्नवदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश का सीधा-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किन्तु और बातों

पढ़े संस्कृत बहुत विध अंग्रेजी हू आप ।
भाषा चतुर नहीं भये हिय को मिट्यो न ताप ॥
तिमि जग शिष्टाचार सब मौलवियन आधीन ।
तिन सों सीखे बिनु रहत भये दीन के दीन ॥
बैठनि बोलनि उठनि पुनि हँसनि मिलनि बतरान ।
बिन परसी न आवही यह जिय निश्चय जान ॥
तिमि जग की विद्या सकल अंगरेजी आधीन ।
सबै जानि ताके बिना रहे दीन के दीन ॥'[1]...

तारों से खबरें किस प्रकार आती हैं, रेल किस प्रकार चलती है, मशीन किसे कहते हैं, तोप किस तरह चलती है, कपड़ा किस तरह बनता है, कागज किस विधि से तैयार होता है, क़वायद किस तरह की जाती है, बाँध कैसे बाँधे जाते हैं, फ़ोटोग्राफ़ी किस प्रकार होती है आदि इन सब बातों का ज्ञान अँगरेजी भाषा के माध्यम द्वारा प्राप्त हो सकता था। इसी ज्ञान के अभाव में आर्यगण का दिन दिन पतन होता जा रहा था । इसी अभाव के कारण विदेशी कपड़े तथा अन्य वस्तुओं का प्रचार होता जा रहा था और जिससे देश की निर्धनता दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। यदि यह ज्ञान, जिस प्रकार अँगरेजी में था, अपनी भाषा में भी होता तो देश का धन बचता, लोग राजनीति, अपने

१—'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १९-४० पृ० ७३४-७३५.

kiss she gave him was the first and last' आदि के अनुसार नीलदेवी उनके लिये आदर्श प्रतीक है। मुसलमानों के प्रति उनके विचारों का इस रचना से भी यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वे पश्चिम का अन्धानुकरण पसंद न करते थे। साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, आलोचना, पत्रकारकला, सभा-सोसायटियों की स्थापना, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण आदि अनेक विषयों में उन्होंने पश्चिम से प्रेरणा ग्रहण की। किन्तु सब बातों का प्रतिपादन उन्होंने भारतीयता के नाते भारतीय दृष्टिकोण से किया। अनेक अँगरेजी शिक्षित व्यक्ति एक तो अभारतीय बातें ग्रहण करते थे, ऐसी बातें जो भारतीय समाज में अवगुण और त्याज्य समझी जाती थीं और जो यहाँ के धर्म, आचार-विचार तथा शिष्टाचार के प्रतिकूल थीं। फिर वे जो अभारतीय बातें का ग्रहण करते थे उनमें भी अति कर देते थे। यह और भी दुःखदायी होता था। उधर दूसरी ओर अशिक्षित, ज्ञान-विज्ञान-विहीन अपार भारतीय जनसमूह था। वह भी अति के दूसरे किनारे पर था। कूपमण्डूक बने हुए इस समाज की अत्यंत हीनावस्था थी। ज्ञान के सूर्य का प्रकाश उसके पास तक न पहुँच पाता था। भारतेंदु चाहते थे कि ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में अति का परित्याग कर मध्यम मार्ग ग्रहण करते और साथ ही भारतीयता को बनाए रखते हुए देश राजनीतिक, सामाजिक,

में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं; अपना स्वत्त्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोती, उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्त्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्त्तमान कुलपरंपरा-मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य्य-जन-मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रंथ विरचित होकर'...[1]

अँगरेज रमणियों को देखकर जो भाव उत्पन्न हुआ उसे भारतेंदु ने भारतीय अनुकूलता प्रदान कर किस प्रकार पाठकों के सामने रखा है वह ध्यान देने योग्य है। साथ ही उन्होंने नीर-क्षीर-विवेक का व्यवहार भी किया है। इन्हीं बातों की वे अपने शिक्षित देशवासियों से आशा रखते थे। जिन विचारों को उन्होंने ऊपर व्यक्त किया है उनके और प्रारंभ में दुर्गापाठ से 'गर्ज गर्ज क्षण मूढ़ मधु यावत्पिबाम्यहम' आदि और अँगरेजी में 'For th

१— नीलदेवी' (१८८१), ना० ना०, ई० प्रे०, भूमिका भाग, पृ० ६९३-६९४

वास्तव में जो ध्येय उग्रवादियों का था वही ध्येय भारतेंदु हरिश्चंद्र का भी था। किन्तु वे उस ध्येय तक एकदम वेगपूर्वक न पहुँचकर धीरे-धीरे पहुँचना चाहते थे। वैसे भी भारतीय सभ्यता के इतिहास में यहाँ के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने में नहीं आते। प्राचीन और नवीन का संसर्ग होने पर यहाँ नवीन प्राचीन को प्रभावित कर प्राचीन में मिलते और फलतः प्राचीन को एक नवीन रूप धारण करते देखा गया है। विकासवाद का यही सिद्धांत भारत की सामाजिक एवं धार्मिक प्रगति का आधार रहा है। भारतेंदु भी इसी प्रगति-क्रम का अनुगमन करना चाहते थे। और इसीलिए वे उग्रवादियों से सहमत न हो पाते थे, फिर वे चाहे प्राचीन धर्म का ढोंग रचने वाले कूपमण्डूक ब्राह्मण हों या आर्य समाजी ब्रह्म समाजी हों या ईसाइयत का दम भरने वाले नव शिक्षित भारतीय। सच्चे और वास्तविक हिंदू धर्म की पुनर्स्थापना ही उनका मुख्य ध्येय था।

४२, पृ० ५००-५०१। साथ ही 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका,' खंड ६, संख्या १२-१३, जून-जुलाई, १८७९ में प्रकाशित भारतेंदु का 'दयानन्द सरस्वती' शीर्षक लेख भी देखिए।

धार्मिक, साहित्यिक, औद्योगिक आदि समस्त क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करे। उनका यही दृष्टिकोण स्वयं भारतीय सुधारवादी आंदोलनों के प्रति था। वे सामाजिक और धार्मिक सुधार चाहते थे, किन्तु अति का परित्याग करते हुए और पश्चिम के चकाचौंध से बचकर भारतीयता की रक्षा करते हुए। क्योंकि वे संगठन और ऐक्य चाहते थे इसलिए अनेक नवीन और विभिन्न सुधारवादी आंदोलन उन्हें पसंद न थे। मतों की विविधता और विभिन्नता को वे भारतीय पतन का एक प्रधान कारण मानते थे। अतएव परम्परागत सनातन धर्म में ही काल और परिस्थिति के अनुसार सुधार करने के वे पक्षपाती थे। वे देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों की पूजा के विरोधी थे। इनके स्थान पर वे विशुद्ध ईश्वर-ज्ञान का उपदेश देते थे। साथ ही प्राचीन सनातन धर्म के प्रति आर्य समाज की भावना का भी वे जोरदार शब्दों में खंडन करते थे। अंगरेजी शिक्षितों की सामाजिक और धार्मिक अभारतीयता तो और उन्हें बिल्कुल न सुहाती थी। उन्हीं के शब्दों में—

'भारत में एहि समय भई है सब कुछ बिनहि प्रमान हो दुइ रंगी।
आधे पुराने पुरानहि मानें आधे भए किरिस्तान हो दुइ रंगी॥
क्या तो गदहा की चना नहायें कि होइ दयानँद जानें हो दुइ रंगी।
क्या तो रहें कैधों होटिलवायें कि होइ बरिस्टर खाय हो दुइ रंगी॥
कहाँ ले भारत नास भया यह जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइ-रंगी।
होउ एक मत भाइ सबै अब छोड़हु चाल कुचाल हो दुइ रंगी॥'[१]

१—'वर्षा-विनोद' (१८८०), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०,

वास्तव में जो ध्येय उग्रवादियों का था वही ध्येय भारतेंदु हरिश्चंद्र का भी था। किन्तु वे उस ध्येय तक एकदम वेगपूर्वक न पहुँचकर धीरे-धीरे पहुँचना चाहते थे। वैसे भी भारतीय सभ्यता के इतिहास में यहाँ के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने में नहीं आते। प्राचीन और नवीन *का संसर्ग होने पर यहाँ नवीन प्राचीन को प्रभावित कर प्राचीन* में मिलते और फलत: प्राचीन को एक नवीन रूप धारण करते देखा गया है। विकासवाद का यही सिद्धांत भारत की सामाजिक एवं धार्मिक प्रगति का आधार रहा है। भारतेंदु भी इसी प्रगति-क्रम का अनुगमन करना चाहते थे। और इसीलिए वे उग्रवादियों से सहमत न हो पाते थे, फिर वे चाहे प्राचीन धर्म का ढोंग रचने वाले कूपमण्डूक ब्राह्मण हों या आर्य समाजी ब्रह्म समाजी हों या ईसाइयत का दम भरने वाले नव शिक्षित भारतीय। सच्चे और वास्तविक हिंदू धर्म की पुनर्स्थापना ही उनका मुख्य ध्येय था।

४२, पृ० ५००-५०१। साथ ही 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका,' खंड ६, संख्या १२-१३, जून-जुलाई, १८७६ में प्रकाशित भारतेंदु का 'दयानन्द सरस्वती' शीर्षक लेख भी देखिए।

धार्मिक, साहित्यिक, औद्योगिक आदि समस्त क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करे। उनका यही दृष्टिकोण स्वयं भारतीय सुधारवादी आंदोलनों के प्रति था। वे सामाजिक और धार्मिक सुधार चाहते थे, किन्तु अति का परित्याग करते हुए और पश्चिम के चकाचौंध से बचकर भारतीयता की रक्षा करते हुए। क्योंकि वे संगठन और ऐक्य चाहते थे इसलिए अनेक नवीन और विभिन्न सुधारवादी आंदोलन उन्हें पसंद न थे। मतों की विविधता और विभिन्नता को वे भारतीय पतन का एक प्रधान कारण मानते थे। अतएव परंपरागत सनातन धर्म में ही काल और परिस्थिति के अनुसार सुधार करने के वे पक्षपाती थे। वे देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों की पूजा के विरोधी थे। इनके स्थान पर वे विशुद्ध ईश्वर-ज्ञान का उपदेश देते थे। साथ ही प्राचीन सनातन धर्म के प्रति आर्य समाज की भावना का भी वे जोरदार शब्दों में खंडन करते थे। अँगरेजी शिक्षितों की सामाजिक और धार्मिक अभारतीयता तो खैर उन्हें बिल्कुल न सुहाती थी। उन्हीं के शब्दों में—

'भारत में एहि समय भई है सब कुछ बिनहि प्रमान हो दुइ रंगी।
आधे पुराने पुरानहि मानैं आधे भए किरिस्तान हो दुइ रंगी॥
क्या तो गदहा को चना चढ़ावैं कि होइ दयानँद जानैं हो दुइ रंगी।
क्या तो पढ़ै कैथी कोठिवलियै कि होइ बरिस्टर धाय हो दुइ रंगी॥
इही से भारत नास भया सब जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइ-रंगी।
होउ एक मत भाई सबै अब छोड़हु चाल कुचाल हो दुइ रंगी॥'[१]

१—'वर्षा-विनोद' (१८८०), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०,

मातृ-भाषा हिंदी का ज्ञान-कोष भरने के लिए था, दूसरों का खज़ाना लूट कर अपना खज़ाना भरनेके लिए था। हिंदी के प्रति अवहेलना और उसका अपमान वे किसी प्रकार भी सहन न कर सकते थे। हिंदी प्रांत में हिंदी का अपमान हो यह तो जले पर नमक छिड़कने के बराबर था। मातृभाषा के अनादर से उनके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती थी। राष्ट्रप्रेमी की हैसियत से उन्होंने सरकारी नीति का विरोध किया और उर्दूपरस्त तथा अँगरेजीदाँ भारतवासियोंको कड़ी ताड़ना दी। यह भाषा-संबंधी आँदोलन वैसे तो बहुत पहले ही शुरू हो गया था, परंतु १८७४ में भारतेंदु की 'उर्दू का स्यापा' शीर्षक कविता की रचना से इस आंदोलन ने निश्चित और उग्र रूप धारण कर लिया। १८७७ में उन्होंने हिंदी के ज्ञान-कोष की वृद्धि के दृष्टिकोण से 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' शीर्षक एक महत्वपूर्ण पद्यात्मक भाषण दिया। मातृ भाषा का पक्ष ग्रहण कर सरकारी नीति का वे बराबर विरोध करते रहे। अपने अफ़सरों को खुश करने के लिए राजा शिवप्रसाद, हेनरी पिन्कोट के शब्दों में, अपनी भाषा का गला घोंट सकते थे। किन्तु भारतेंदु हरिश्चंद्र से इस प्रकार की आशा कदापि न की जा सकती थी। उर्दू विदेशी जामा पहने हुए थी और हिन्दी से उसका सांस्कृतिक झगड़ा भी था। ऐसी हालत में उर्दू को जबर्दस्ती हिन्दियों के गले उतारते, हिन्दी की दुर्दशा देख कर भारतेंदु जैसे राष्ट्रप्रेमी का विचलित हो जाना स्वाभाविक

६. भाषा, धर्म तथा उद्बोधन

हिंदी के उस नव-जागृति-काल में भाषा की ओर ध्यान जाना भी अवश्यंभावी था। भाषा और समाज का अटूट सम्बन्ध है। उस समय मौलवी शिष्टाचार का प्राधान्य था। बैठना, उठना, बोलना, हँसना, बातें करना आदि फ़ारसी-ज्ञान के आधीन था। अदालतों की भाषा उर्दू हो चुकी थी। उर्दू पठन-पाठन के संबंध में जीविका की समस्या ही प्रमुख हेतु रही है। अँगरेजी शिक्षित समुदाय के जन्म से हिंदी की उन्नति के मार्ग में एक और रोड़ा अटक गया था। अँगरेजी भाषा शिक्षा-माध्यम भी थी। इससे एक तो भाषा-साहित्य का पठन-पाठन कम हो गया, दूसरे सरकारी नौकरी ढूँढ़ने वाले अपनी भाषा और साहित्य के प्रति उदासीन हो गए। अस्तु, हिंदी पर उर्दूपरस्त और अँगरेजीदाँ दोनों की कोप दृष्टि थी। भारतेंदु को उर्दू या अँगरेजी में से किसी से भी किसी प्रकार का विरोध या उनसे घृणा नहीं थी। उर्दू में उन्होंने स्वयं 'रसा' उपनाम से काव्य-रचना की है और अँगरेजी से उन्होंने स्वाध्याय द्वारा बहुत कुछ सीखा। ज्ञान-वृद्धि के लिए वे किसी भी भाषा का अध्ययन करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। वे स्वयं बहु-भाषाविद् थे। किंतु यह सब अपनी

मातृ-भाषा हिंदी का ज्ञान-कोष भरने के लिए था, दूसरों का खज़ाना लूट कर अपना खज़ाना भरनेके लिए था। हिंदी के प्रति अवहेलना और उसका अपमान वे किसी प्रकार भी सहन न कर सकते थे। हिंदी प्रांत में हिंदी का अपमान हो यह तो जले पर नमक छिड़कने के बराबर था। मातृभाषा के अनादर से उनके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती थी। राष्ट्रप्रेमी की हैसियत से उन्होंने सरकारी नीति का विरोध किया और उर्दूपरस्त तथा अँगरेजीदाँ भारतवासियोंको कड़ी ताड़ना दी। यह भाषा-संबंधी आँदोलन वैसे तो बहुत पहले ही शुरू हो गया था, परंतु १८७४ में भारतेंदु की 'उर्दू का स्यापा' शीर्षक कविता की रचना से इस आंदोलन ने निश्चित और उग्र रूप धारण कर लिया। १८७७ में उन्होंने हिंदी के ज्ञान-कोष की वृद्धि के दृष्टिकोण से 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' शीर्षक एक महत्वपूर्ण पद्यात्मक भाषण दिया। मातृ भाषा का पक्ष ग्रहण कर सरकारी नीति का वे बराबर विरोध करते रहे। अपने अफ़सरों को खुश करने के लिए राजा शिवप्रसाद, हेनरी पिन्कौट के शब्दों में, अपनी भाषा का गला घोंट सकते थे। किन्तु भारतेंदु हरिश्चंद्र से इस प्रकार की आशा कदापि न की जा सकती थी। उर्दू विदेशी जामा पहने हुए थी और हिन्दी से उसका सांस्कृतिक झगड़ा भी था। ऐसी हालत में उर्दू को जबर्दस्ती हिन्दियों के गले उतारते, हिन्दी की दुर्दशा देख कर भारतेंदु जैसे राष्ट्रप्रेमी का विचलित हो जाना स्वाभाविक

६. भाषा, धर्म तथा उद्बोधन

हिंदी के उस नव-जागृति-काल में भाषा की ओर ध्यान जाना भी अवश्यंभावी था। भाषा और समाज का अटूट सम्बन्ध है। उस समय मौलवी शिष्टाचार का प्राधान्य था। बैठना, उठना, बोलना, हँसना, बातें करना आदि फ़ारसी-ज्ञान के आधीन था। अदालतों की भाषा उर्दू हो चुकी थी। उर्दू पठन-पाठन के संबंध में जीविका की समस्या ही प्रमुख हेतु रही है। अँगरेज़ी शिक्षित समुदाय के जन्म से हिंदी की उन्नति के मार्ग में एक और रोड़ा अटक गया था। अँगरेज़ी भाषा शिक्षा-माध्यम भी थी। इससे एक तो भाषा-साहित्य का पठन-पाठन कम हो गया, दूसरे सरकारी नौकरी ढूँढ़ने वाले अपनी भाषा और साहित्य के प्रति उदासीन हो गए। अस्तु, हिंदी पर उर्दूपरस्त और अँगरेजीदाँ दोनों की कोप दृष्टि थी। भारतेंदु को उर्दू या अँगरेज़ी में से किसी से भी किसी प्रकार का विरोध या उनसे घृणा नहीं थी। उर्दू में उन्होंने स्वयं 'रसा' उपनाम से काव्य-रचना की है और अँगरेज़ी से उन्होंने स्वाध्याय द्वारा बहुत कुछ सीखा। ज्ञान-वृद्धि के लिए वे किसी भी भाषा का अध्ययन करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। वे स्वयं बहु-भाषाविद् थे। किंतु यह सब अपनी

'हम चाकर राधा रानी के।
ठाकुर श्री नँदनंदन के वृषभानु लली ठकुरानी के॥
निरभय रहत बदत नहिं काहू डर नहिं डरत भवानी के।
'हरीचंद' नित रहत दिवाने सूरत अजब निवानी के॥'[1]

'हमरे निर्धन की धन राधा।
साधन कोटि छोड़ि इनहीं को चरन-कमल अवराधा॥
इनके बल हम गिनत न काहू करत न जिय कोउ साधा।
'हरीचंद' इन नख-सिख मेरी हरी तिमिर भव-बाधा॥'[2]

'हमारी श्री राधा महारानी।
तीन लोक को ठाकुर जो है ताहू की ठकुरानी॥
सब ब्रज की सिरताज लाडली सखियन की सुखदानी।
'हरीचंद' स्वामिनि पिय कामिनि परम कृपा की खानी॥'[3]

'जै जै श्री बृन्दाबन-देवी।
जो देवन को देव कन्हाई सो जा पद-सेवी॥

१—'होली' (१८७६), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ११, पृ० ३६५

२—'राग-संग्रह' (१८८०), भा० ग्र०, द्वि०, ना० प्र० स०, १३६, पृ० ४८२

३—'वर्षा-विनोद' (१८८०), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ३५, पृ० ४६६

ही था। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने मनोभाव इस प्रकार प्रकट किए हैं—

'भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अब रोई कै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुबाइये॥
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहू हीन किन्हैं दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अबै यह "आपमै प्यारे हिमन्त बनाइये"॥'[1]

परन्तु इतने पर भी हिंदी-भाषियों में आशा का संचार कम नहीं हुआ था। भारतेंदु के बाद का हिंदी-प्रचार-आंदोलन इस बात का साक्षी है।

हिंदी नवोत्थान आंदोलन के दो और प्रमुख पक्ष थे—धर्म और साहित्य। भारतेंदु इन पर भी अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ गए हैं। उनके धार्मिक सुधार-सम्बन्धी विचारों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। धर्म का उच्च, अम्लान और विशुद्ध स्वरूप ही उन्हें मान्य था। धर्म के साथ समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उनके लिए दोनों को पृथक्-पृथक् देखना संभव नहीं था। अतएव उनका उपर्युक्त दृष्टि-कोण दोनों पर लागू होता है। उसके पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिगत रूप से वे वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी वैष्णव थे। अपने धार्मिक विश्वास का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं—

१—'स्फुट-कविताएँ', भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५, पृष्ठ ८६६

इसी भावना के अंतर्गत उन्होंने वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ और गोकुलनाथ के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। अद्वैतवाद में उनका विश्वास न होना वास्तव में उनके धार्मिक सिद्धांत के अनुकूल था—

'कहो अद्वैत कहाँ सों आयो।
हमैं छोड़ि दूजो है को जेहिं सब थल पिया लखायो॥
बिनु वैसो चित पाएँ झूठो यह क्यों जाल बनायो।
'हरीचन्द' बिनु परम प्रेम के यह अभेद नहिं पायो॥'[1]
'शिवोह'' भाखत ही सब लोग।
कहँ शिव कहँ तुम कीट अन्न के यह कैसो संजोग॥'...[2]

'जो पै सबै ब्रह्म ही होय।
तो तुम जोरु जननी मानौ एक भाव सों टोय॥
ब्रह्म ब्रह्म कहि काज न सरनो वृथा मरौ क्यों रोय।
'हरीचन्द' इन बातन सों नहिं ब्रह्महि पैहो कोय॥'[3]

किंतु उनका धर्म उन्हें धार्मिक असहिष्णुता और विद्वेष, व्यर्थ का व्यतंडावाद, वाद-विवाद और मतमतांतरों का संघर्ष नहीं सिखाता था। वे सब धर्मों की समान गति में विश्वास रखते

१—'जैन-कुतूहल' (१८७३), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १८ पृ० १३७

२—वही, २२, पृ० १३८

३—वही, २३, पृ० १३८-१३६

अगम अपार जगत-सागर के जाके गुन गन खेवी ।
'हरीचन्द' की यहै बीनती कबहूँ तो सुधि लेवी ॥' [१]

'बृज के लता-पता मोहिं कीजै ।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै ॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै ।
श्री राधे राधे मुख यह बर 'हरीचन्द' को दीजै ॥' [२]

उनका यही धार्मिक विश्वास उनको 'हरि-माया भठियारिन' के बंधन से मुक्त कर सकता था । इसी भक्ति-भावना से प्रेरित होकर उन्होंने 'भक्त-सर्वस्व' (१८७०), 'प्रेम-मालिका' (१८७१), 'कार्तिक-स्नान' (१८७२), 'वैशाख-माहात्म्य' (१८७२ ?), 'प्रेम-सरोवर' (१८७३), 'प्रेमाश्रु-वर्षण' (१८७३), 'प्रेम-माधुरी' (१८७५), 'प्रम-तरंग' (१८७७), 'प्रेम प्रलाप' (१८७७), 'गीत-गोविंदानंद' (१८७८), 'होली' (१८७६), 'मधु-मुकुल' (१८८०), 'राग-संग्रह' (१८८०), 'वर्षा विनोद' (१८८०), 'विनय-प्रेम- पचासा' (१८८१), 'प्रेम-फुलवारी' (१८८३), 'कृष्ण-चरित्र' (१८८३), आदि अन्य अनेक ग्रंथों में अपने विचार व्यक्त किए हैं ।

१—'विनय-प्रेम पचासा' (१८८१), भा० ग्र०, द्वि०, ना० प्र० स०, १, पृ० ५३७

२—'प्रेम-मालिका' (१८७१), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ६७, पृ० ६५ तथा देखिए, 'श्री चंद्रावली' (१८७६), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ४६५...

अपुने ही पै क्रोधि बावरे अपुनो काटैं अंग।
'हरीचन्द' ऐसे मतवारेन कों कहा कीजै संग ॥'[1]

'धरम सब अटक्यो याही बीच।
अपुनी आप प्रसंसा करनी दूजेन कहनो नीच ॥
यहै बात सबने सीखी है का वैदिक का जैन।
अपनी-अपनी ओर खींचनो एक लैन नहिं दैन ॥'...[2]

'कंत है बहुरूपिया हमारो।
ठगत फिरत भेस बदलि जग आप रहत है न्यारो ॥...
कबहूँ हिंदू जैन कबहुँ अरु कबहुँ तुरक बनि आवै ॥
भरमत वाके भेदन मैं सब भूले धोखा खात।'...[3]

'यह पहिले ही समुझि लियो।
हम हिंदू हिंदू के बेटा हिंदुहि को पय पान कियो ॥
तब ताहि तत्व सूझहिं कहँ लौं पहलेहि सो बनि आपु रहे।...[4]

...जौ हम हम भाखैं तो जग मे और दिखाई कौन परै।
'हरीचन्द' यह भेद मिटावै तबै तत्व जिय मैं उछरै ॥'[5]

१—वही, १२, पृ० १३६
२—वही, १४, पृ० १३६-१३७
३—वही, १६, पृ० १३७
४—वही, १६, पृ० १३७-१३८
५—वही, २०, पृ० १३८

थे। पक्के वैष्णव हिन्दू होत हुए भी वे अपने धर्म को सब-कुछ और संसार में उसे ही सर्वोपरि समझने वाली संकुचित मनोवृत्ति और अंध-विश्वास के पाश से मुक्त थे—

'नाहिं ईश्वरता अँटकी वेद में।
तुम तो अगम अनादि अगोचर सो कैसे मत-भेद में ॥'...[१]

'कहाँ लौं बकिहैं वेद बिचारे।
तिनसों कछु नातो नहिं तोसों तिनके का पतियारे ॥'...[२]

'जो पै झगरेन मैं हरि होते।
तौ फिर श्रम करिकै उनके मिलिवे हित क्यों सब रोते ॥

× × ×

रे पंडितो करत झगरो क्यों चुप ह्वै बैठो भौन।
'हरीचन्द' याही मैं मिलिहैं प्यारे राधा-रौन ॥'[३]

'खंडन जग मैं काको कीजै।
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै ॥
तासों बाहर होइ कोऊ जब तब कछु भेद बतावै।
ह्याँ तो वही ,सबै मत ताके तहँ दूजो क्यों आवै ॥

१—वही, ६, पृ० १३४
२—वही, ६, पृ० १३५
३—वही, ११, पृ० १३५-१३६

इसलिए—

'लगाओ चसमा सबै सफेद ।
तब सब ज्यौं को त्यौं सूझैगो जैसो जाको भेद ॥...
आग्रह छोड़ि सबै मिलि खोजहु तब वह रूप लखैहै ।
'हरीचन्द' जो भेद भूलिहै सोई पियकों पैहै ॥' [1] आदि

क्योंकि—

'पियारो पैये केवल प्रेम मैं ।
नाहिं ज्ञान मैं नाहिं ध्यान मैं नाहिं करम-कुल-नेम मैं ॥
नहिं भारत मैं नहिं रामायन नहिं मनु मैं नहिं वेद मैं ।
नहिं झगरे मैं नाहिं युक्ति मैं नाहिं मतन के भेद मैं ॥
नहिं मंदिर मैं नहिं पूजा मैं नहिं घंटा की घोर मैं ॥
'हरीचन्द' वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति के डोर मैं ।' [2]

'प्रेम मैं मीन-मेष कछु नाहीं ।
अति ही सरल पंथ यह सूधो छल नहिं जाके माहीं ॥...
परमारथ स्वारथ दोउ पीतम और जगत नहिं जानै ।
'हरीचन्द' यह प्रेम-रीति कोउ बिरले ही पहिचानै ॥' [3]

१—'जैन-कुतूहल' (१८७३), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १७; पृ० १३७

२—वही, १३, पृ० १३६

३—'विनय-प्रेम-पचासा' (१८८१), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ३२, पृ० ५४८

'कहौ रे इक-मत है मतावारो।
क्यों इतनो पाखण्ड रचि रहे बिनु पाए पिय प्यारो ॥'...[1]

'भये सब मतवारे मतवारे।
अपुनो अपुनो मत लै-लै सब झगरत ज्यौं भठिहारे ॥'...[2]

'नहिं इन झगड़न मैं कछु सार।
क्यों लरि लरिकै मरो बावरे बादन फोरि कपार ॥'...[3]

'खराबी देखहु हो भगवान् की।
कहाँ कहाँ भटकहै डोलत हैं सुधि य ताहि कछु प्रान की ॥...
मंदिर महजिद गिरजा देहरन डोलत धायो धायो ॥' ..[4] आदि

'ढूढ़ फिरा मैं इस दुनिया में पश्चिम से ले पूरब तक।
कहीं न पाई मेरे दिलदार प्रेम की तेरे झलक ॥
मसजिद मंदिर गिरजों में देखा मतवालों का जा दौर।
अपने अपने रँग में रँगा दिखाया सब का तौर ॥
सिवा झूठा बातों व बनावट के न नज़र आया कुछ और।'...[5]

१—वही, २५, पृ० १३६
२—वही, २६, पृ० १३६
३—वही, २८, पृ० १४०
४—वही, ३०, पृ० १४०
५—'फूलों का गुच्छा' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, १३१, पृ० ५७१

होने के नाते उनसे यही आशा भी थी। वैसे भी हिन्दू स्वभाव से सहिष्णु होता है।

साहित्य के संबंध में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि उसके नवीन, विशदपूर्ण और विविध-विषय-संपन्न स्वरूप के वे जनक थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे एक ऐसे साहित्यिक संगम हैं जहाँ हिन्दी साहित्य की प्रायः सभी धाराएँ आकर मिलीं और मिलकर जिन्होंने एक नवीन धारा को जन्म दिया जो आज विश्व-साहित्य-सागर की अंकशायिनी हुई है।

अंत में उनका भारतवासियों के प्रति यही उद्बोधन है कि—

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥

× × ×

तासों सब मिलि छाँड़ि कै दूजे और उपाय।
उन्नति भाषा की करहु अहो भ्रात गन आय॥
बच्यौ तनिकहू समय नहिं तासों करहु न देर।
औसर चूके व्यर्थ की सोच करहुगे फेर॥
प्रचलित करहु जहान में निज भाषा करि जतन।
राज-काज दरबार में फैलावहु यह रतन॥
भाषा सोधहु आपनी होइ सबै एकत्र।
पढ़हु पढ़ावहु लिखहु मिलि छपवावहु कछु पत्र॥

'जहाँ देखो वहाँ मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।
उसी का सब है जलवा जो जहाँ में आशकारा है ॥...
तेरा दम भरते हैं हिन्दू अगर नाकूस बजता है।
तुझे ही शेख ने प्यारे अज़ाँ देकर पुकारा है ॥
जो बुत पत्थर हैं तो काबे में क्या जुज़ खाको पत्थर है।
बहुत भूला है वह इस फ़र्क़ में सर जिसने मारा है ॥
न होते जलवःगर तुम तो यह गिरजा कब का गिर जाता।
निसारा को भी तो आखिर तुम्हारा ही सहारा है ॥'...[1] आदि

उनके इस प्रेममय व्यक्तित्व का परमोत्कृष्ट रूप हमें उनके 'श्री चंद्रावली' (१८७६) नामक ग्रंथ में मिलता है। हिन्दी नवोत्थान के प्रतीक और नवयुग के संदेशवाहक भारतेंदु का यही सच्चा स्वरूप है। उन्होंने अपनेपन पर, हिन्दुओं के निज स्वत्व पहिचानने पर, भारतीयता पर ज़ोर अवश्य दिया है, किन्तु उनके इस अपनेपन की परिधि निरंतर प्रसारोन्मुख थी, न कि संकीर्णोन्मुख। अपना अस्तित्व पहिचानते हुए भी वे समस्त विश्व को अपनी बाहों में भरे हुए थे। अन्य स्थलों पर मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति प्रकट किए गए विचार उनके ऐतिहासिक अध्ययन और राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के द्योतक हैं। राजनीति के दलदल से बाहर मनुष्यता के नाते उनमें इस्लाम, ईसायत या अन्य किसी मत से किसी प्रकार भी धार्मिक विद्वेष नहीं था। हिन्दू

१—'स्फुट कविताएँ,' भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ८, पृ० ८५१

बढ़न चहत आगे सबै जग की जेती जाति।
बल बुधि धन विज्ञान में तुम कहँ अबहूँ राति॥

× × ×

या दुख सों मरनो भलो, धिग जीवन बिन मान।
तासों सब मिलि अब करहु बेगहि ज्ञान बिधान॥
कोरी बातन काम कछु चलिहै नाहिंन मीत।
तासों उठि मिलि कै करहु बेग परस्पर प्रीत॥
परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस।
पर-बस है कब लौं कहो रहिहौ तुम ह्वै दास॥
काम खिताब किताब सों अब नहिं सरिहैं मीत।
तासों उठहु सिताब अब छाँड़ि सकल भय भीत॥
निज भाषा, निज धरम, निज मान करम ब्यौहार।
सबै बढ़ावहु बेगि मिलि कहत कहत पुकार पुकार॥
लखहु उदित पूरब भयो भारत-भानु प्रकास।
उठहु खिलावहु हिय-कमल करहु तिमिर दुख नास॥
करहु बिलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सब को मूल॥
लहहु आर्य्य भ्राता सबै विद्या बल बुधि ज्ञान।
मेटि परस्पर द्रोह मिलि होहु सबै गुन-खान॥'[1]

१—'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५, ७२-८६, ६१-६८, पृ० क्रमशः ७३१, ७३६-७३८, ७३८

वैर बिरोधहि छोड़ि कै एक जीव सब होय।
करहु जतन उद्धार को मिलि भाई सब कोय॥

आल्हा बिरहहु को भयो अंगरेजी अनुवाद।
यह लखि लाज न आवई तुमहिं न होत बिखाद॥

अंगरेजी अरु फारसी अरबी संस्कृत ढेर।
खुले खज़ाने तिनहिं क्यों लूटत लावहु देर॥

सबको सार निकाल कै पुस्तक रचहु बनाइ।
छोटी बड़ी अनेक बिध बिबिध बिषय की लाइ॥

मेटहु तम अज्ञान को सुखी होहु सब कोय।
बाल वृद्ध नर नारि सब बिद्या संजुत होय॥

फूट बैर को दूरि करि बाँधि कमर मजबूत।
भारत माता के बनो भ्राता पूत सपूत॥

देव पितर सबही दुखी कष्टित भारत माय।
दीन दशा निज सुतन की तिनसों लखी न जाय॥

कब लौं दुख सहिहौ सबै रहिहौ बने गुलाम।
पाइ मूढ़ कालो अरध-सिच्छित काफिर नाम॥

बिना एक जिय के भये चलिहै अब नहिं काम।
तासों कोरो ज्ञान तजि उठहु छोड़ि बिसराम॥
लखहु काल का जग करत सोवहु अब तुम नाहिं।
अब कैसो आयो समय होत कहा जग माहिं॥

पंचपीर की भगति छाड़ि कै ह्वै हरिचरन उपासी
जग के और नरन सम थेऊ होउ सबै गुनरासी ।।[1]

'जागो जागो रे भाई ।
सोअत निसि बैस गँवाई । जागो...
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो काल राति चलि आई ।
देखि परत नहिं हित-अनहित कछु परे बैरि-बस जाई ।।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई ।
अबहूँ चेति, पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई ।।
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहौ मुँह बाई ।
जागो जागो रे भाई ।।'[2]

एक बार बलिया में व्याख्यान देते हुए उन्होंने जनता को पुरानी रीति-रस्मों के दलदल में से निकल कर काल-गति को पहिचानते हुए प्रगति-पथ का अनुसरण करने का प्रोत्साहन दिया था। पश्चिमी देशों की भाँति अपने देश की उन्नति भी उन्हें प्रिय थी। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रों में संतोष को वे अवनति का मूल कारण समझते थे। सार्वजनिक

१—'मुद्राराक्षस' (१८७८), भा० ना०, इं० प्रे०, उपसंहार (क), पृ० ३३५-३३६

२—'भारत दुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६२८

...'उठौ उठौ भैया क्यौं हारौ अपुन रूप सुमिरो री।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करो री॥
दीनता दूर धरो री॥

× × ×

खान-पियन अरु लिखन पढ़न सों काम न कछू चलो री।
आलस छोड़ि एक मत ह्वैकै साँची बुद्धि करो री॥
समय नहिं नेकु बचोरी॥

उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन सान धरो री।
विजय-निसान बजाइ बावरे आगेइ पाँव धरो री॥
छबीलिन रँगन रँगो री॥

आलस में कछु काम न चलिहै सब कुछ तो बिनसो री।
कित गयो धन-बल राज-पाट सब कोरो नाम बचो री॥
तऊ नहिं सुरत करो री॥'...[1]

'लहौ सुख सब विधि भारतवासी।
विद्या कला जगत की सीखौ तजि आलस की फाँसी॥
अपनो देस धरम कुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।
उद्यम करिकै होहु एकमति निज बल बुद्धि प्रकासी॥

१—'मधु-मुकुल' (१८८०), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४७, पृ० ४०५-४६

कमबख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बंधी रहै उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।'[1]

इसी संबंध में उनके प्रशस्ति-वाक्य इस प्रकार —

'राज वर्ग मद छोड़ि निपुन विद्या में होई।
आलस, मूरखतादि तजैं भारत सब कोई॥
पंडितगन पर-कृति लखि कै मति दोष लगावैं।
छुटै राज-कर, मेघ समै पै जल बरसावैं॥
कजरी ठुमरिन सों मोरि मुख सत कविता सब कोउ कहै।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि प्रेम धार नितही बहै॥'[2]

'उन्नत चित ह्वै आर्य्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट नेह तजि सहज सत्य व्यौहार चलावैं॥
जवन-संसरग-जात दोसगन इनसों छूटैं।
सबै सुपथ पथ चलैं नितहि सुख सम्पति लूटैं॥
तजि-विविध देव-रति कर्म-मति एक भक्ति पथ सब गहैं।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि प्रेम धार नित ही बहै॥'[3]

१—'बलिया का लेक्चर', खंगविलास प्रेस बाँकीपुर, पटना, १८६०, पृ० २। साथ ही इसी प्रेस से प्रकाशित 'हरिश्चन्द्र कला', छठा खंड, प्रथम संख्या, १८८६ में भारतेंदु कृत 'हाउ कैन इंडिया बि रिफॉर्मड' शीर्षक रचना भी देखिए।

२—'धनंजय-विजय' (१८७३), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० १०५

३—'कर्पूर-मंजरी' (१८७५), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० १६३

प्रौढ़ शिक्षा, विशुद्ध धर्म और परिवर्तित समय के अनुसार रीति-रस्मों का प्रचार और निर्धनता दूर करने के लिए उन्होंने जनता से अपील की। स्त्री-शिक्षा तथा अन्य ऐसी ही अनेक अच्छी-अच्छी बातें वे पश्चिम से अपनाना चाहते थे, न कि उसका अंधानुकरण करना। समस्त भारतीयों, हिंदुओं, मुसलमानों और जैनों तथा अन्य धार्मिक संप्रदायों का अनुसरण करने वालों में वे एकता स्थापित होते देखना चाहते थे। मुसलमानों की अभारतीयता उन्हें बहुत अखरती थी। वे चाहते थे कि मुसलमान अपने को इसी देश की संतान समझ हिंदुओं के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील हों। उन्होंने अँगरेजों के माध्यम द्वारा पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव को भी सराहा। अंत में पढ़ने-लिखने और भारतीय वाङ्मय और भाषाओं की उन्नति करने की ओर दत्तचित्त होने के लिए उन्होंने जनता का ध्यान आकृष्ट किया। एक स्थान पर उनका कथन है—

...'अमेरिकन अँगरेज फरासीस आदि तुरकी ताज़ी सब सरपट दौड़े जाते हैं। सब के जी में यही है कि पाला हमीं पहले छूलें। उस समय हिंदू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हांफते हुए दौड़ते देखकर भी लाज नहीं आती यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायगा फिर कोटि उपाय किए भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी जिसके सिर पर

वे ईश्वर को संबोधित कर कहते हैं—

'डूबत भारत नाथ वेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो॥
महा मूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो।
कृपा-दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो॥
अपुनो अपुनायो जानिकै करहु कृपा गिरिवर-धरन।
जागो बलि वेगहि नाथ अब देहु दीन हिंदुन सरन॥'

'प्रथम मान धन बुधि कोशल बल देइ बढ़ायो।
क्रम सों विषय-विदूषित जन करि तिनहिं घटायो॥
आलस मैं पुनि फाँसि परसपर बैर चढ़ायो।
ताही के मिस जवन काल सम को पग आयो॥
तिनके कर की करवाल बल बाल वृद्ध सब नासि कै।
अब सोवहु हाय अचेत तुम दीनन के गल फाँसि कै॥'[1]

'जागो हौं बलि गई बिलंब न तनिक लगावहु।
चक्र सुदरसन हाथ धारि रिपु मारि गिरावहु॥
थापहु थिर करि राज छत्र सिर अटल फिरावहु।
मूरखता दीनता कृपा करि वेग नसावहु॥
गुन विद्या धन बल मान बहु सबै प्रजा मिलि कै लहैं।
जय राज राज महराज की आनँद सो सब ही कहैं॥'[2]

१—'प्रबोधिनी' (१८७४), भा० ग्रं० द्वि०, ना प्र० स०, १७, १८, पृ० ६८३

२—वही, २४, पृ० ६८५

'निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईश्वर पद मैं भक्ति करैं छल बिनु सब कोई॥
खल विष-बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज-कर मेघ समय पै जल बरसावैं॥

कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख सत कविता सब कोइ कहै।
यह कवि बानी बुध-बदन में रवि ससि लौं प्रगटित रहै॥'[1]

'खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइँ, हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥'[2]
'परतिय परधन देखि, न नृपगन चित्त चलावैं।
गाय दूध बहु देहिं, मेघ सुभ जल बरसावें॥
हरि-पद में रति होइ, न दुख कोऊ कहँ व्यापै।
अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै॥
श्रुति-पंथ चलैं सज्जन सबै सुखी होहिं तजि दुष्ट-भय।
कबिबानी थिर रस सों रहै भारत की नित होइ जय॥'[3]

१—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ३६३

२—'सत्य हरिश्चंद्र' (१८७५), भा० ना०, इ० प्रे०, पृ० ४६०

३—'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६), भा० ना, इं० प्रे०, पृ० ५६२-५६३

...देहु निरुजता जस अधिकारा। कृषक, राजसुत, कै अधिकारी।
करहिं राज को संभ्रम भारी।'...[१]

उपर्युक्त प्रशस्ति-वाक्यों और प्रार्थनाओं का एक-एक शब्द सार-गर्भित और भारतेंदु की हार्दिक आकांक्षाओं का द्योतक है।

१—'जातीय संगीत' (१८८४), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, पृ० ८१३-८१४

'सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवै।
कर राजा नहिं लेइ प्रजन पैं हेत बढ़ावै ॥
गाय दूध बहु देहिं तिनहिं कोऊ न नसावै ।
द्विज-गन आस्तिक होइँ मेघ सुभ जल बरसावै ॥
तजि छुद्र वासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं।
कहि कृष्ण राधिका-नाथ जय हमहूँ जिय आनँद भरहिं ॥'[1]

'कहाँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेक न यदपि बहुत विधि भारतवासी रोए ॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारत हित बिसराए ।
इतके पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए ॥
इक इक दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई ।
अपनी संपति जानि इनहि तुम रछ्यौ तुरन्तहि धाई ॥
प्रलय काल सम जौन सुदरसन असुर प्रानसंहारी ।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी ॥'... [2]

'प्रभु रच्छहु दयाल महरानी । बहु दिन जिए प्रजा-सुखदानी ॥...
...राज करै बहु दिन लौं सोई । हे प्रभु रच्छहु श्री महरानी ॥...
सब दुख दारिद दूर बहाओ । विद्या और कला फैलाओ ।
हमरे घर मह‌ँ शांति बसाओ । देहु असीस हमैं सुखकारी ॥...

१—वही, भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, २५, पृ० ६८५
२—'नीलदेवी' (१८८१), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६६६-६७०

पुनस्थापना करने की चेष्टा ने राष्ट्रीयता को जन्म दिया और मध्यकालीन परंपरा पर प्रहार पर प्रहार करने शुरू किए। नई दुनिया से सामंजस्य स्थापित करने के क्रम ने भी राष्ट्रीयता को योग देने और देश के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में सहायता पहुँचाई। इस क्रम की अवतारणा पहले-पहल समाज के उच्चवर्ग में हुई। बाद को मध्यम वर्ग के जन्म ने उसे उत्तेजना दी। पश्चिमी शिक्षा का प्रचार करने के साथ इन दोनों वर्गों के विचारशील व्यक्ति भारतीयता बनाए रखने के भी पक्षपाती थे। उनकी राष्ट्रीयता धार्मिक रोमांस भी लिए हुए थी, इसमें कोई संदेह नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी का यह नवोत्थान आंदोलन उस व्यापक भारतीय आंदोलन का एक भाग था जो अंत में स्वयं उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक प्रमुख भाग था जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता के संपर्क द्वारा मिश्र, टर्की, अरब, ईराक़, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलयद्वीप आदि समस्त पूर्वी संसार के जीवन को स्पंदित कर रहा था। विश्व के इस ऐतिहासिक क्रम में हिंदी जनता ने भी अपना सहयोग प्रदान किया। एक समय वह था जब भारत से अरब और अरब से समस्त युरोपीय सांस्कृतिक जीवन प्रभावित हुआ था। उस समय पूर्वी देशों में क्रियात्मक शक्ति थी, उनका जीवन ओजपूर्ण और तेजस्वी था। युरोपीय मध्य युग के अंत और आधुनिक युग के प्रारंभ तक पूर्व की

७. उपसंहार

वास्तव में हिंदी नवोत्थान द्विमुखी होकर अवतरित हुआ था। एक की दृष्टि भूतकालीन गौरव की ओर थी, तो दूसरे की दृष्टि भविष्य की ओर आशा लगाए हुए थी। सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलनों ने नवोत्थान के भव्य नवीन मार्ग का निर्माण किया और धर्म के विशुद्ध मूल रूप पर जोर दिया। इसके पीछे दो प्रधान शक्तियाँ काम कर रही थीं—एक तो देश के प्राचीन गौरव की स्मृति और दूसरी उन्नति के नए-नए मार्गों की सूझ। इस संबंध में विदेशी सभ्यता का प्रभाव भी कुछ कम न था। साथ ही वैज्ञानिक शिक्षा और औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप समाज के विचारों और उसके जीवन का क्रम भी बदला। लोगों के सामने नए-नए क्षेत्र खुलने लगे। उन्होंने दुनिया नई आँखों से देखी। नवयुग की स्थापना के साथ विचार-स्वातंत्र्य और सब प्रकार के बंधनों से हीन व्यक्तित्व का जन्म हुआ। मनुष्य ने मनुष्य को पहिचाना।

उन्नीसवीं शताब्दी भारतवर्ष में धार्मिक आंदोलन उसी प्रकार उठ खड़े हुए थे जिस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में वे युरोप में उठ खड़े हुए थे। धार्मिक सुधार और धर्म के विशुद्ध रूप की

में उच्च आदर्शों की पोषक अपनी विचार-धारा का प्रचार किया। और इस प्रकार विजित देशों के प्रमुख और प्रगतिशील व्यक्ति अपनी ओर आकृष्ट किए। भारतवर्ष में भी यह क्रम शुरू से ही जारी रहा। कूटनीति बरतने और कुटिल सैनिक चालें चलने पर भी कुछ ऐसे अँगरेज़ हमेशा रहे जिन्होंने देश के उच्चवर्गीय लोगों को अपने चरित्र और अपनी सभ्यता से प्रभावित किया और अंत में साम्राज्य के शासन में भाग लेने पर बाध्य किया। विजितों को शासन में भाग देकर और अंत में उन्हीं के द्वारा उनके देश पर अधिकार प्राप्त करने में ब्रिटिश जाति ने जिस अभूतपूर्व कौशल का परिचय दिया वह विश्व-इतिहास में अद्वितीय है। १८३५ में मैकॉले की शिक्षा-आयोजना के सूत्रपात से अँगरेज़ों की इस कुशल नीति ने मूर्तमान रूप ग्रहण किया। अँगरेज़ी राज्य ने मध्यम वर्ग को जन्म दिया और अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी इँगलैंड के विचारों ने भारतीय जीवन को अनुप्राणित किया। जिस आर्थिक नीति का उन्होंने अवलंबन लिया वह तो सर्वविदित है। तात्पर्य यह है कि ब्रिटिश जाति के माध्यम द्वारा पश्चिमी विचारों के प्रचार से देश में बहुत-कुछ चेतना हुई, उसी प्रकार जिस प्रकार उससे पहले स्वयं पश्चिम में हो चुकी थी। धर्म का स्थान राष्ट्रीयता ने ग्रहण किया। इस राष्ट्रीयता के साथ लोगों का सांस्कृतिक (इसलिए धार्मिक भी) और भावुकतापूर्ण संबंध था, यह भी मानना पड़ेगा। देश में रूढ़िवाद को आघात पहुँचा, शिक्षा का प्रचार हुआ, स्त्रियों को

पश्चिम में यही स्थिति थी। किंतु उसके बाद पूर्व की क्रियात्मक शक्ति का ह्रास होने लगा और जिन चार-पाँच सौ वर्षों में यूरोप ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति प्राप्त कर विश्व नेतृत्व ग्रहण किया उसी काल में भारत तथा अन्य पूर्वी देश पतन के गहन गर्त में डूब गए। अनेक राजनीतिक परिवर्तन हुए, अनेक राजवंशों का उत्थान और पतन हुआ, किंतु पूर्वी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्था रूढ़ि और अप्रगति के कर्दम में लिप्त निश्चेष्ट पड़ी रही। पूर्व और पश्चिम के द्वंद्व में पश्चिम को विजय प्राप्त हुई और उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक एशिया और अफ्रीका में गोरी जातियों का राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया। आज कालानुसार पूर्व फिर से पश्चिम को उखाड़ फेंकने में प्रयत्नशील है।

अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पूर्व और पश्चिम के इस नए क्रियात्मक संपर्क के स्थापित करने में वैसे तो युरोप की अनेक जातियों ने भाग लिया, किंतु एंग्लो-सैक्सन सभ्यता की संदेशवाहक ब्रिटिश जाति ने प्रमुख भाग लिया। इस दृष्टि से विश्व-इतिहास में ब्रिटिश जाति का नाम अमर रहेगा।

जहाँ अन्य जातियों को असफलता मिली वहाँ ब्रिटिश जाति को सफलता प्राप्त होने का एक प्रधान कारण यह था कि अपने स्वार्थ-साधन में रत रहने और स्वार्थ-साधक प्रायः सब प्रकार की नीतियों का अवलंबन ग्रहण करने पर भी उसने विजित देशों

हुआ कि उसकी नींव दृढ़ बनी हुई थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र एक बिल्कुल ही नया भवन खड़ा करने के स्थान पर उसी प्राचीन दृढ़ नींव पर नए ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में एक ऐसे भव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहते थे जिसके साए में अपार भारतीय जनसमूह सुख और शांतिपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के इन चारों फलों को प्राप्त कर सके। इस संबंध में संभव है हम उनके अनेक विचारों से सहमत न हों। किंतु उनके विचारों को आधुनिक मापदंड से नापना अनुचित और उनके प्रति अन्याय ही नहीं वरन् वह हमारे अवैज्ञानिक ऐतिहासिक ज्ञान का परिचायक होगा। मानव इतिहास में प्रत्येक युग की अपनी कुछ समस्याएँ होती हैं जो पिछले और आने वाले युगों से मेल नहीं खातीं। हाँ, उनमें अंतर्निहित एकसूत्रता अवश्य होती है। हो सकता है भारतेंदु हरिश्चंद्र की राज्य-भक्ति, उनकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक और आर्थिक राष्ट्रीयता आज देश की परिवर्तित परिस्थिति में हमको अव्यावहारिक जान पड़े। किंतु साथ ही हमें यह याद रखना चाहिए कि वे अपने युगधर्म में पालित-पोषित थे। युगधर्म छोड़ कर जहाँ उन्होंने सब युगों में समान रूप से अंतर्निहित एकसूत्रता के संबंध में कुछ कहा है वहाँ उनकी युगवाणी नहीं युग-युग की वाणी घोषित हुई है। उनकी यह वाणी अमर रहेगी। साथ ही मैं इस ओर भी संकेत कर देना चाहता हूँ कि देश के उस संक्रांतिकाल में उनकी युगवाणी में साहित्यिक सौष्ठव की आशा करना हमारी ज्यादती

सम्मान मिला, मातृभाषा को प्रोत्साहन दिया गया, जनसत्तात्मक विचारों और राजनीतिक संस्थाओं का चलन हुआ, प्राचीन स्वर्ण-युग की ओर लोगों का ध्यान गया, और राजा-महाराजाओं, योद्धाओं और पुजारियों आदि के स्थान पर वकील-बैरिस्टरों, विद्यार्थियों आदि की नवीन आर्थिक व्यवस्था का जन्म हुआ। प्रेस और पत्र-पत्रिकाओं ने भी अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति का परिचय दिया। पश्चिमी विचारों का यह प्रभाव (प्रधानतः अँगरेजों के ही माध्यम द्वारा) प्रायः सभी पूर्वी देशों के नवोत्थान आंदोलनों पर लगभग समान रूप से पाया जाता है। इस संबंध में भारतीय आंदोलन एक विशिष्टता लिए हुआ था। उसके पास एक प्राचीन और उच्च सभ्यता थी। यद्यपि उसके दुर्दिन आ गए थे, तो भी वह उसे अपनी कह कर पुकार सकता था। यह बात मिश्र, टर्की, अरब, ईरान आदि अन्य देशों के संबंध में लागू नहीं हो सकती थी। साथ ही यूरोप से कुछ दूर स्थित होने के कारण भारत कभी दूसरा टर्की बन सकता है, यह कुछ असंभव सा ही प्रतीत होता है।

अस्तु, जो ऐतिहासिक क्रम समस्त पूर्वी संसार के अलसाए जीवन में स्फूर्ति पैदा कर रहा था भारतेंदु हरिश्चंद्र ने उसमें अपना पूर्ण योग दिया। किंतु वे क्रांतिकारी न होकर सुधारवादी थे। या हम यह कह सकते हैं कि उनके सुधार ही मौन क्रांति का रूप धारण कर रहे थे। पश्चिमी विचारों के भूडोल ने भारत के प्राचीन सांस्कृतिक भवन को झकझोर डाला था। अच्छा यह

होगी। उसमें साहित्यिक सौष्ठव प्रायः नहीं है, किंतु उसमें नवीन भारत का स्वर प्रतिध्वनित है। यह क्या कम है?

आशा है हमारे आधुनिक कविगण भारतेंदु हरिश्चंद्र के विचारों के प्रकाश में अपने नवीनतम ज्ञान और अनुभव का संबल लेकर भारतीय मंगल क्रांति के लिए शंख-ध्वनि करेंगे। पुनर्जन्म का सिद्धांत तो वैसे भी हमारी संस्कृति का प्रधान अंग है।